नई दिल्ली
रविवार, 22 नवंबर, 2026, मूल्य-15.00
राष्ट्रीय
वर्ष-9 अंक-4 पृष्ठ- 8
RNI: DELHIN / 2018 / 76679
Postal Reg. No. DL(C)-05/1425/2025-27
License To Post Without Pre Payment No. U(C)-164/2025-27
Magazine Post Reg. No. DL(DS)-31/MP/25-26-27

संडे नवजीवन

www.navjivanindia.com
@navjivanindia
www.nationalheraldindia.com
www.qaumiawaz.com

Freedom is in Peril, Defend it with all your might Jawaharlal Nehru



सादर नमन
इंदिरा गांधी जी

भारत की प्रथम और एकमात्र महिला प्रधानमंत्री – 'आयरन लेडी'
को उनकी 109वीं जयंती पर

19 नवंबर

राष्ट्रीय एकता दिवस

"शिक्षा एक मुक्तिदायी शक्ति है, और हमारे युग में यह एक लोकतांत्रीकरण की शक्ति भी है, जो जाति और वर्ग की बाधाओं को तोड़ती है तथा जन्म व अन्य परिस्थितियों द्वारा थोपी गई असमानताओं को दूर करती है।"

इंदिरा गांधी

अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी

संडे नवजीवन
रविवार, 22 नवंबर, 2026 Iwww.navjivanindia.com



'भाजपा के पास दिखाने के लिए बहुत कम है'

उत्तराखंड प्रदेश कांग्रेस अध्यक्ष **गणेश गोदियाल** विधानसभा में भाजपा के भारी बहुमत (भाजपा की 47 सीटों के मुकाबले कांग्रेस की 20 सीटें) को खास तवज्जो नहीं देते। उनका दावा है कि पुष्कर सिंह धामी सरकार के खिलाफ जनता में भारी नाराजगी है और भाजपा के भीतर अंतर्कलह चरम पर है। पेपर लीक, युवाओं में बेरोजगारी और स्थानीय नौकरियों की गंभीर कमी को लेकर गहरा असंतोष है। महिला सुरक्षा, महंगाई, जीवन-यापन का भारी खर्च, उच्च मातृ मृत्यु दर और पर्यावरण से जुड़े सरोकार लोगों के जेहन में सबसे ऊपर हैं। भाजपा सरकार धार्मिक पर्यटन, चार धाम यात्रा में रिकॉर्ड श्रद्धालुओं की संख्या, समान नागरिक संहिता लागू करने, बाहरी लोगों को जमीन बेचने पर रोक और दिसंबर 2026 से महिलाओं को नकद राशि देने का बढ़-चढ़कर प्रचार कर रही है... लेकिन क्या तीसरी बार लगातार सरकार बनाना तय माना जाए? गोदियाल (ब्राह्मण) को प्रीतम सिंह और हरक सिंह रावत के साथ मिलकर राज्य के दो प्रमुख समुदायों (ठाकुर और ब्राह्मण, जो राज्य की 60 प्रतिशत आबादी हैं) को साधने की जिम्मेदारी दी गई है। मुखर और स्पष्ट वक्ता गोदियाल 2021-22 में प्रदेश अध्यक्ष रहे थे और 2025 में फिर इस पद पर लौटे हैं। **रश्मि सहगल** के साथ उनकी बातचीत के मुख्य अंश:

विधानसभा चुनावों में कांग्रेस के सत्ता में आने को लेकर आप कितने आश्वस्त हैं?

भाजपा पिछले दस वर्षों से सत्ता में है, लेकिन शासन या जवाबदेही के नाम पर उसके पास दिखाने को कुछ नहीं है। उनका कार्यकाल अधूरे वादों की दास्तान भर है। महिलाओं के खिलाफ अपराध तेजी से बढ़े हैं और महिलाएं सुरक्षित महसूस नहीं करतीं। बेरोजगारी चरम पर पहुंच चुकी है और किसानों, खासकर पहाड़ी इलाकों में रहने वालों के पास आजीविका के कोई स्थायी साधन नहीं बचे हैं। जंगलों की कटाई के कारण इन कृषि समुदायों पर जंगली जानवरों के हमलों में भारी वृद्धि हुई है। वन्यजीव प्रबंधन की बदहाली से मानव-वन्यजीव संघर्ष बढ़ा है: अकेले वर्ष 2025 में हजारों मवेशी मारे गए और 29 लोगों की जान चली गई।

पेपर लीक के बढ़ते मामलों को देखिए। पिछले दस वर्षों में हमने एक-के-बाद एक कई पेपर लीक देखे। सब जानते हैं कि ऐसे घोटालों के पीछे अक्सर मंत्रियों का हाथ होता है और वे इससे जमकर पैसा बनाते हैं। उत्तराखंड अधीनस्थ सेवा चयन आयोग द्वारा आयोजित ग्राम पंचायत विकास अधिकारी भर्ती परीक्षा का पर्चा लीक हुआ। यहां तक कि उत्तराखंड लोक सेवा आयोग की पटवारी और लेखपाल भर्ती का पेपर भी लीक हो गया जिसके कारण परीक्षा रद्द करनी पड़ी और पूरे राज्य में व्यापक आंदोलन भड़क उठा। इंजीनियरिंग कॉलेजों में भी पेपर लीक हुए हैं। राज्य में सरकारी नौकरियों को बहुत महत्व दिया जाता है, लेकिन भाजपा ने उस निष्पक्ष अवसर को ही पूरी तरह तबाह कर दिया है।

क्या आपको लगता है कि उत्तराखंड में पहले से अधिक भ्रष्टाचार है?

निस्संदेह। शराब और खनन माफिया पूरी तरह बेलगाम हैं। देखिए कि किस पैमाने पर सरकारी जमीन बिल्डरों को धोखाधड़ी से बेची जा रही है। इस पर कोई रोक-टोक नहीं है। जनता की ताजा आशंका यह है कि ड्रग माफिया राज्य में बड़े पैमाने पर अपने पैर पसार रहा है। तबादलों और पदस्थापनों से खुलेआम पैसे की उगाही की जा रही है।

आपने महिलाओं के खिलाफ अपराधों का उल्लेख किया। क्या अंकिता भंडारी हत्याकांड की गूंज जनता के बीच अब भी है और क्या यह आंदोलन का मुख्य बिन्दु बनेगा?

महिलाएं सुरक्षित माहौल में काम करना चाहती हैं। अंकिता की हत्या केवल इसलिए कर दी गई क्योंकि उसने वीआईपी लोगों को 'विशेष सेवाएं' देने से इनकार कर दिया था। मुख्य संदिग्धों में से एक को कानूनी संरक्षण देने के लिए राज्य ने सीबीआई जांच जारी रहने के बावजूद दुष्यंत कुमार गौतम को सिक्किम का राज्यपाल नियुक्त करने तक की हद पार कर दी। अंकिता के माता-पिता अपना विरोध दर्ज कराने दिल्ली पहुंचे। राहुल गांधी और प्रियंका गांधी दोनों ने अपना समर्थन जताने के लिए इंडिया गेट का रुख किया। यह मामला स्वाभिमानी लोगों के लिए एक बड़ा मुद्दा बन चुका है।

भाजपा ने एक अविवाहित मां (जेनी उर्फ इंदिरा देवरी) के आरोपों से पलटवार किया है, जिसमें कांग्रेस नेता हरक सिंह रावत पर नाजायज बेटा पैदा करने का आरोप लगाया गया था...

भाजपा ने अंकिता भंडारी मामले से ध्यान भटकाने के लिए यह पुराना मुद्दा उठाया है। पहली बात तो यह कि यह 2003 का बहुत पुराना मामला है जब जेनी ने पहली बार आरोप लगाया था। रावत ने इन आरोपों को खारिज करते हुए मंत्रिमंडल से इस्तीफा दे दिया था (वह तत्कालीन एन.डी. तिवारी सरकार में मंत्री थे) और स्वयं सीबीआई जांच की मांग की थी। मामला सीबीआई को सौंपा गया।

उनका डीएनए टेस्ट कराया गया, जिससे साबित हुआ कि वह बच्चा उनका नहीं था। किसी कांग्रेसी नेता को बदनाम करने के लिए पुराने मामले को दोबारा हवा देने की कोशिश पूरी तरह नाकाम साबित हुई है।

उत्तराखंड में मुसलमानों के खिलाफ अभियान क्यों चलाया जा रहा है, जबकि राज्य में उनकी आबादी बेहद कम है?

लोगों में ध्रुवीकरण करने के लिए। वे उस सांप्रदायिक सद्भाव को बिगाड़ना चाहते हैं जो इस राज्य की पहचान रहा है। गढ़वाल का उदाहरण



"शराब और रेत माफिया बहुत ताकतवर हैं। देखिए, सरकार ने कितनी सारी ज़मीन उनके हवाले कर दी है!

लीजिए जहां मुसलमान पीढ़ियों से रह रहे हैं। हम सभी समुदायों और जातियों को समान अवसर देने में विश्वास रखते हैं। वोटों के फायदे के लिए किसी भी समुदाय को निशाना बनाने में हमारा यकीन नहीं है।

भाजपा लगातार आरोप लगाती रही है कि राज्य में 'घुसपैठिये' भर गए हैं...

भाजपा पिछले 12 वर्षों से केन्द्र की सत्ता में है और पिछले 10 वर्षों से उत्तराखंड पर शासन कर रही है। यदि उन्हें लगता है कि कोई जनसांख्यिकीय बदलाव हुआ है, तो वे आंकड़े क्यों नहीं पेश करते: कितने लोग बाहर से आए, उनके नाम-पते क्या हैं और अन्य विवरण क्या हैं? यह सब जान-बूझकर मतदाताओं में डर की झूठी भावना पैदा करने के लिए किया जा रहा है।

मतदाता सूची पुनरीक्षण (एसआईआर) के दौरान राज्य में बड़े पैमाने पर नाम हटाए गए। इस पर आपकी क्या राय है?

महीने भर चले विशेष गहन पुनरीक्षण (एसआईआर) अभियान के दौरान उत्तराखंड की मतदाता सूची से आठ लाख से अधिक लोगों के नाम हटा दिए गए। अब उनसे कहा गया है कि वे 2027 के विधानसभा चुनावों से पहले नाम शामिल कराने के लिए आवेदन कर सकते हैं, जिसके तहत विशेष संक्षिप्त पुनरीक्षण (एसएसआर) पात्र मतदाताओं को नाम दर्ज कराने का एक और मौका दे रहा है। उन्हें 11 दिसंबर तक अपने दावे और आपत्तियां दर्ज करानी हैं। प्रभावित लोग फॉर्म 6 (मतदाता सूची में नाम जुड़वाने के लिए) या फॉर्म 7 (यदि वे किसी नाम को हटाने का अनुरोध करना चाहते हैं) भर सकते हैं।

कुछ मामलों में, उत्तर प्रदेश से लगे सीमावर्ती इलाकों में रहने वाले लोगों के नाम दोनों राज्यों में दर्ज जरूर थे, लेकिन इतनी भारी संख्या में नामों का कटना समझ से परे है।

हमने पहाड़ों में हर बूथ पर अपने स्थानीय कार्यकर्ताओं को तैनात किया है ताकि जिन लोगों के नाम गलत तरीके से काटे गए हैं, उन्हें दोबारा जुड़वाया जा सके। कुछ नाम वापस जुड़ गए हैं; अंतिम सूची 4 जनवरी को जारी होगी। उसके बाद ही साफ हो पाएगा कि किनके नाम शामिल किए गए और कितने नाम बाहर रह गए।

क्या कांग्रेस नेताओं के बीच बहुत अधिक गुटबाजी है?

यह भाजपा द्वारा फैलाया गया एक और मनगढ़ंत प्रचार है। वे खुद हमसे कहीं अधिक अंदरूनी कलह से जूझ रहे हैं।

मान लिया, लेकिन चुनावों के दौरान वे एकजुट चेहरा पेश करते हैं...

भाजपा को हराने के लिए हम भी पूरी तरह एकजुट हैं। मैंने हमेशा अपने नेताओं को पूरा सम्मान और अवसर देने पर विश्वास किया है, चाहे वे हरीश रावत हों, प्रीतम सिंह हों, करन माहरा हों या अन्य साथी। ■

गिग श्रमिक और बदलती राजनीतिक बयार

जगदीश रतनानी

उदारीकरण और निजीकरण का एक बड़ा दुष्परिणाम भारत में ट्रेड यूनियनों का खात्मा रहा है। आलोचकों का तर्क है कि भाजपा के शासनकाल में श्रमिक अधिकारों का दायरा तेजी से सिमटा है-शुरू में गुजरात में जब नरेन्द्र मोदी वहां के मुख्यमंत्री थे, और बाद में स्पष्ट रूप से कारोबार-समर्थक नीतियों के प्रभाव में पूरे देश में। इस वर्ष अप्रैल में, नोएडा में न्यूनतम मजदूरी बढ़ाने की मांग को लेकर हुई व्यापक हड़ताल के बाद उत्तर प्रदेश में 350 से अधिक लोगों को गिरफ्तार किया गया और श्रमिक प्रतिनिधियों को जेल में डाल दिया गया। जब विरोध प्रदर्शनों, हड़तालों और आंदोलनों को कुचलने के लिए सरकारी मशीनरी का इस्तेमाल होता है, तो श्रमिकों को संगठित करना विकट चुनौती बन जाता है। यह तब से बिल्कुल उलट है जब कारखानों के फाटकों पर मजदूर सभाएं आयोजित होती थीं, वेतन समझौते कड़े संघर्षों के बाद होते थे और यूनियन प्रतिनिधि वास्तविक ताकत वाले बड़े नेता माने जाते थे।

गिग अर्थव्यवस्था के नए भारत में उनकी जगह एक नया कार्यबल तैयार हुआ है, और पिछले सप्ताहांत यही तबका चर्चा के केन्द्र में आया जब लोकसभा में विपक्ष के नेता राहुल गांधी और तेलंगाना के मुख्यमंत्री रेवंत रेड्डी ने हैदराबाद में हजारों गिग श्रमिकों के साथ एक विशाल रैली की और उनके लिए राज्य की नई कल्याणकारी योजना शुरू की। देश भर में गिग श्रमिकों की संख्या लगभग 1.2 करोड़ है, जिनमें से 4.2 लाख अकेले तेलंगाना में हैं, और इनमें भी अधिकतर हैदराबाद में केन्द्रित हैं। इस रैली ने एक बड़े और तेजी से बढ़ते उस वर्ग को आवाज दी है जिसकी संख्या इस दशक के अंत तक 2.3 करोड़ से अधिक होने का अनुमान है। लेकिन यह बढ़ता कार्यबल ऐसे कामकाजी रिश्तों में बंधने को मजबूर है जो औपचारिक और अनौपचारिक क्षेत्र के बीच के धुंधलके में झूलते हैं, जिससे उन्हें औपचारिक क्षेत्र के लाभ तो नहीं ही मिलते हैं, ऊपर से अनौपचारिक क्षेत्र की सारी परेशानियां भी झेलनी पड़ती हैं। एक तरफ जहां ऐप प्लेटफॉर्म और उनकी भारी वृद्धि (तथा बाजार हिस्सेदारी की होड़ में उलझे सबसे बड़े प्लेटफॉर्मों का सालाना 12,000 करोड़ रुपये से अधिक का संयुक्त घाटा) एक नए और बढ़ते भारत का चेहरा पेश करते हैं, वहीं उनके गिग 'पार्टनर' वास्तव में सबसे गरीब बेरोजगार युवा हैं जो बेहद कम मेहनताने पर, लगभग शून्य सुविधाओं के साथ और घंटे व मिनट के हिसाब से तय ठेका मजदूरी के जोखिमों के बीच बिना किसी सुरक्षा के खटते हैं।

मार्च में पारित एक राज्य कानून के तहत 14 नवंबर को शुरू की गई तेलंगाना की यह योजना गिग श्रमिकों को सुरक्षा प्रदान करती है। हर गिग श्रमिक के लिए 5 लाख रुपये का दुर्घटना बीमा और 10 लाख का स्वास्थ्य बीमा। इसका वित्तपोषण प्रत्येक लेन-देन पर लगने वाले 1 प्रतिशत उपकर से किया जाएगा, जिसे कंपनियों को राज्य के गिग वर्कर्स वेलफेयर बोर्ड के पास जमा करना होगा। यह योजना कार्य संबंधी डेटा, रिकॉर्ड और भुगतान में पारदर्शिता के अलावा पूरे हैदराबाद में वाई-फाई युक्त विश्राम केन्द्र और वाहन पार्किंग स्थल उपलब्ध कराने का भी वादा करती है। राहुल गांधी के शब्दों में: भाजपा-आरएसएस 'चाहते हैं कि आप दिन के 24 घंटे काम करें, अपना खून-पसीना बहाएं-हादसों में घायल हों, जान गंवाएं, कुचल दिए जाएं या अपंग हो जाएं-और इन सबका फायदा केवल अरबपतियों की जेब में जाए।' उन्होंने कहा कि कांग्रेस की सोच यह है कि श्रमिक 'इस देश की रीढ़' हैं। इस योजना का वादा 2023 के विधानसभा चुनाव प्रचार से जुड़ा है।

मान सकते हैं कि अपनी मर्जी से या फिर राजनीतिक मजबूरी के चलते, गिग और प्लेटफॉर्म श्रमिकों के पक्ष में नई बयार बहने लगी है। यद्यपि ये श्रमिक कार्यबल में एक बुनियादी ढांचागत बदलाव का प्रतिनिधित्व करते हैं, वे अपने साथ आज की राजनीति में भी तदनुरूप बदलाव ला सकते हैं। वे कारखाने के फाटकों पर सभाएं नहीं कर सकते, किसी प्रबंधक के दफ्तर में नहीं घुस सकते या काम बंद कर औजार नीचे नहीं रख सकते- क्योंकि उनके औजार और उनके दफ्तर उनके अपने वाहन, उनके घर और उनकी निजी संपत्तियां हैं। 'दफ्तर' तक उनकी पहुंच केवल एक ऐप या हेल्पलाइन के जरिये होती है। इसलिए उनके विरोध प्रदर्शनों का तरीका भी अनूठा रहा है: एक साथ सामूहिक रूप से ऐप से लॉग-ऑफ कर देना, जैसा कि पिछले साल नए साल की पूर्व संध्या पर देखा गया था। सरकार भी उन पर उस तरह लाठियां या पाबंदियां नहीं थोप सकती जैसा वह कारखाने के मजदूरों पर करती रही है। गिग श्रमिक किसी एक छत के नीचे संगठित नहीं हैं; इसके विपरीत, वे बिखरे हुए हैं। फिर भी, प्लेटफॉर्म कंपनियां रेटिंग, इंसेंटिव और ऐप डिएक्टिवेशन के जरिये उनपर अनुशासन का डंडा चलाती हैं। ऐप से हटा दिया जाना एक तरह की आधुनिक तालाबंदी है, ठीक वैसे ही जैसे सामूहिक लॉग-ऑफ कारखाने की हड़ताल का नया रूप है।

ऐसा नहीं है कि केन्द्र की भाजपा सरकार ने गिग श्रमिकों को लुभाने की कोशिश नहीं की। नई श्रम संहिताओं (लेबर कोड्स) ने गिग और प्लेटफॉर्म श्रमिकों को औपचारिक मान्यता दी और उन्हें सामाजिक सुरक्षा योजनाओं, कल्याणकारी कोषों और लाभों की पोर्टेबिलिटी में शामिल किया, यद्यपि ये योजनाएं अभी जमीन पर लागू होनी बाकी हैं। व्यापक श्रम कानून सुधारों के तहत 29 केंद्रीय कानूनों की जगह लेने वाले चार लेबर कोड्स में से एक 'सामाजिक सुरक्षा संहिता' में गिग श्रमिकों और प्लेटफॉर्म श्रमिकों के लिए उपयुक्त सामाजिक सुरक्षा उपाय तैयार करने का प्रावधान है। लेकिन यह समूचा बदलाव केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों के कड़े विरोध के बीच लाया गया, जिससे नए विवाद खड़े हुए और यह सुधार व्यावहारिक रूप से निष्प्रभावी होकर रह गया।

"गिग वर्कर संगठित नहीं हैं। वे बिखरे हुए हैं और उनके पास शोषणकारी कार्य संस्कृति का विरोध करने का कोई ज़रिया नहीं है

फोटो: गेटी इमेजेज



मुंबई में गिग वर्कर्स का प्रदर्शन, जिसमें न्यूनतम वेतन और काम के लिए सुरक्षित माहौल की मांग की गई है

केन्द्र सरकार का दृष्टिकोण अधिकतर गिग श्रमिकों के सरोकारों को नए अवसरों और विकास के चश्मे से देखने का रहा है, जिसे 'अभूतपूर्व अवसर', 'राजस्व सृजन' और 'आर्थिक विविधीकरण' जैसी चमकदार भाषा में व्यक्त किया जाता है। आर्थिक समीक्षा 2025-26 ने कम वेतन, एल्गोरिदम के जरिये नियंत्रण और प्लेटफॉर्म कंपनियों की मनमानी पर जरूर सवाल उठाए थे, और नए साल की पूर्व संध्या पर हुई हड़ताल तथा केन्द्रीय श्रम मंत्री के साथ बैठक के बाद जनवरी में क्विक-कॉमर्स कंपनियों ने 10 मिनट में डिलीवरी का अमानवीय वादा वापस ले लिया था। लेकिन श्रमिक अधिकारों के लिए अधिक मुखर आवाजें दूसरी जगहों से आई हैं: नागरिक समाज से और कांग्रेस शासित राज्यों से, जिन्होंने सबसे पहले कानून बनाए (2023 में राजस्थान, 2025 में कर्नाटक और अब तेलंगाना)।

गैर-लाभकारी संस्था 'जनपहल' और गिग वर्कर्स एसोसिएशन द्वारा सितंबर 2026 में देश भर में किए गए एक सर्वेक्षण 'भारत में प्लेटफॉर्म-आधारित गिग श्रमिकों की व्यावसायिक सुरक्षा और स्वास्थ्य' पर विचार कीजिए। इस अध्ययन ने निष्कर्ष निकाला कि गिग और प्लेटफॉर्म श्रमिक 'नियमित रूप से लंबे कामकाजी घंटों, निरंतर व्यावसायिक खतरों, बुनियादी ढांचे की बेहद सीमित पहुंच और जलवायु जोखिमों के प्रति बढ़ती लाचारी का सामना करते हैं। ये परिस्थितियां कोई आकस्मिक नहीं हैं; बल्कि ये प्लेटफॉर्म-आधारित काम के संगठन के भीतर संरचनात्मक रूप से रची-बसी हैं।' अध्ययन में कहा गया कि 'कार्यस्थल की स्पष्ट परिभाषा का अभाव जिम्मेदारियों से पल्ला झाड़ने की खुली छूट देता है', जिसके कारण 'स्वच्छता, विश्राम, स्वास्थ्य सेवा और सामाजिक सुरक्षा तक पहुंच में बड़े फासले बने हुए हैं।'

पिछले एक दशक और उससे अधिक समय में राष्ट्रीय राजनीति बहुत अधिक दक्षिणपंथ की ओर झुक गई है, और उस झुकाव का परिणाम लोकतांत्रिक दायरों के छिनने और उसके चलते उपजे व्यापक जनाक्रोश के रूप में सामने है जिसका सामना आज मोदी सरकार कर रही है। श्रमिकों के प्रति कांग्रेस का यह कल्याणकारी दृष्टिकोण न केवल भाजपा से, बल्कि उदारीकरण के दौर की पुरानी कांग्रेस से भी एक रणनीतिक दूरी का संकेत देता है। यह बदलाव साफ दिख रहा है, लेकिन क्या यह केवल प्रतीकात्मक बदलाव है या फिर कोई बुनियादी वैचारिक प्रस्थान? देश को केवल कॉरपोरेट-परस्त दृष्टिकोण से निकालकर कारोबार और श्रम के बीच एक नए संतुलन की ओर ले जाने के लिए अभी बहुत अधिक राजनीतिक पूंजी की जरूरत होगी। ■

जगदीश रतनानी फाकार हैं और एसपीजेआईएमआर में फैकल्टी सदस्य हैं। साभार: द बिलियन प्रेस

इस समाचारपत्र का प्रकाशन **पवन कुमार बंसल** द्वारा हेराल्ड हाउस, 5-ए, बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली-11002 से **दि एसोसिएटेड जर्नल्स लिमिटेड**, हेराल्ड हाउस, 5-ए, बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली-110002 की ओर से संपादन **राजेश झा** द्वारा और मुद्रण आर. सी. मल्होत्रा द्वारा दि इंडियन एक्सप्रेस (प्रा.) लिमिटेड प्रेस, ए-8, सेक्टर-7, नोएडा- 201301, उत्तर प्रदेश से किया जा रहा है।

नई दिल्ली
रविवार, 22 नवंबर, 2026, मूल्य-15.00
राष्ट्रीय
वर्ष-9 अंक-4 पृष्ठ- 8
RNI: DELHIN / 2018 / 76679
Postal Reg. No. DL(C)-05/1425/2025-27
License To Post Without Pre Payment No. U(C)-164/2025-27
Magazine Post Reg. No. DL(DS)-31/MP/25-26-27

संडे नवजीवन



Freedom is in Peril, Defend it with all your might Jawaharlal Nehru

लद्दाख में मौसम के कंधे पर सवारी कर वोटरों की संख्या घटाने का तरीका निकाल लिया 4

क्या पुलिस को इस सत्ता की जकड़ से छुड़ाया जा सकता है? 6



अगहन क्या-क्या लाया 8

www.navjivanindia.com | @navjivanindia | www.nationalheraldindia.com | www.qaumiawaz.com

उत्तर प्रदेश में दलित सियासत का नया दौर



समाजवादी पार्टी प्रमुख अखिलेश यादव ने गोरखपुर में पार्टी के पीडीए कार्यक्रम में समर्थकों का स्वागत किया; (बाएं) आज़ाद समाज पार्टी (कांशीराम) के चंद्रशेखर आज़ाद और एआईएमआईएम अध्यक्ष असदुद्दीन ओवैसी

नंदलाल शर्मा

5 **मई** 2017 को, उत्तर प्रदेश में भाजपा के सत्ता में आने और योगी आदित्यनाथ के पहली बार मुख्यमंत्री बनने के कुछ ही महीनों बाद, सहारनपुर जिले के शब्बीरपुर गांव में जातीय हिंसा भड़क उठी। यहां दलितों के 50 से ज़्यादा घरों को आग लगा दी गई। घटना तब हुई जब उच्च जाति के राजपूतों का एक जुलूस, जो 'महाराणा प्रताप जयंती' मना रहा था, उसने संत रविदास की एक मूर्ति में तोड़फोड़ की। बताने की जरूरत नहीं कि दलित समुदाय के लिए संत रविदास का क्या स्थान है।

इस हिंसा ने दो युवा दलित कार्यकर्ताओं, रवि गौतम और चंद्रशेखर को एक साथ ला दिया। गौतम बहुजन सामाजिक-राजनीतिक संगठन 'युवा शक्ति दल' से जुड़े थे। आज़ाद उस 'भीम आर्मी' का नेतृत्व कर रहे थे, जो उन्होंने 2015 में बनाई थी। (वह अभी जिस 'आज़ाद समाज पार्टी (कांशी राम)' के प्रमुख हैं, उसका गठन 2020 में हुआ।) दोनों ही जाटव समुदाय से आते हैं।

इसके बाद उनकी राजनीतिक राह अलग हो गई। रवि समाजवादी पार्टी में शामिल हो गए, चंद्रशेखर 'आज़ाद समाज पार्टी' के सर्वेसर्वा हैं। इसने हाल ही में असदुद्दीन ओवैसी की ऑल इंडिया मजलिस-ए-इत्तेहादुल मुस्लिमीन के साथ गठबंधन किया है, ताकि आगामी विधानसभा चुनाव में अखिलेश यादव को चुनौती दी जा सके।

राज्य में दलितों की आबादी 20 प्रतिशत से अधिक है। सपा उनका समर्थन हासिल करने को पूरा जोर लगा रही है। वह अपने पारंपरिक 'मुस्लिम-यादव' आधार से आगे बढ़कर, बसपा के गिरते चुनावी ग्राफ़ का फायदा उठाने की कोशिश में है।

15 नवंबर 2026 को आगरा में सपा के एक बड़े दलित सम्मेलन के लिए भारी भीड़ जुटी। बीते दो दशकों में सपा का यह पहला बड़ा दलित सम्मेलन था। लम्बे समय से सपा से जुड़े, हापुड़ के मनोज कुमार मानते हैं कि पार्टी की पहुंच बढ़ रही है। वह कहते हैं, "पिछले दो वर्षों में सपा में दलितों को पहले से कहीं ज्यादा सम्मान मिला है। जाटव समुदाय का मायावती से भरोसा उठ रहा है। लोगों को लगता है कि बहनजी उनके मुद्दों पर उनके साथ खड़ी नहीं हो सकतीं। वोट देने का अधिकार बचेगा, तभी संविधान बचेगा, और तभी लोगों को राशन और सरकारी योजनाओं का लाभ भी मिल पाएगा।"

रवि, मायावती की विरासत को लेकर उतने नकारात्मक नहीं हैं। कहते हैं, "जब वह सत्ता में थीं, उन्होंने समुदाय के लिए बहुत कुछ किया। लेकिन अपने युवाओं को पार्टी में बड़ी हिस्सेदारी देने में नाकाम रहीं। अखिलेश यादव दलितों के मुद्दे उठाते हैं, आर्थिक मदद देते हैं और लोगों की लड़ाई में उनके साथ खड़े होते हैं। यही वजह है कि लोग उनकी ओर आकर्षित हो रहे हैं।"

आगरा में एक सभा को संबोधित करते हुए, अखिलेश यादव ने दलित समर्थन की लड़ाई को संवैधानिक अधिकारों की रक्षा से जोड़ाः "जो लोग संविधान को नष्ट करना चाहते हैं, आपका वोट भी छीनना चाहते हैं। अगर आपका वोट चला गया, तो संविधान नहीं बचेगा।" यह 2024 के लोकसभा चुनावों में सपा-कांग्रेस के उस अभियान की गूंज थी, जिसमें 'संविधान बचाना' विपक्ष का मुख्य मुद्दा बन गया था। जहां भाजपा '400 पार' की बात कर रही थी, जिससे यह चिंता पैदा हुई कि वे देश के पिछड़े समुदायों को मिले संवैधानिक संरक्षण और गारंटियां खत्म कर सकते हैं, तो दूसरी तरफ राहुल गांधी 'भारत जोड़ो यात्रा' और 'भारत जोड़ो न्याय यात्रा' निकाल चुके थे। कांग्रेस ने प्रमुख शहरों में 'संविधान सम्मान सम्मेलन' आयोजित किए, जबकि सपा ने अपना 'पीडीए' (पिछड़ा-दलित-अल्पसंख्यक) फॉर्मूला आगे बढ़ाया। जहां ज़्यादातर राजनीतिक विश्लेषक भाजपा की एकतरफा जीत की भविष्यवाणी कर रहे थे, 'इंडिया' गठबंधन ने राज्य की 80 लोकसभा सीटों में से 43 पर जीत हासिल की।

सपा ने सामान्य निर्वाचन क्षेत्रों से दलित उम्मीदवार उतारकर पुराने जातिगत समीकरणों को भी परखा। अयोध्या में, पासी समुदाय के अवधेश प्रसाद के हाथों भाजपा को शिकस्त दी, और राम मंदिर उद्घाटन के इर्द-गिर्द बुना गया भाजपा की जीत का नैरेटिव चंद महीनों में ही ध्वस्त कर दिया। तब से अवधेश प्रसाद, अखिलेश के 'पीडीए' (पिछड़ा, दलित, अल्पसंख्यक) एजेंडे का चेहरा हैं। आगरा सम्मेलन में वह आकर्षण की धुरी रहे, संसद में भी अखिलेश के ठीक बगल, अगली पंक्ति में बैठते हैं- मानो याद दिलाना चाहते हों कि राम मंदिर उद्घाटन को लेकर भाजपा-आरएसएस द्वारा किए गए तमाम दिखावे के बावजूद, भाजपा किस तरह अयोध्या हारी।

*

उत्तर प्रदेश में 86 आरक्षित विधानसभा सीटें हैं। 2022 में एनडीए ने 65 सीटें जीतीं, जबकि सपा गठबंधन को 20 सीटें मिलीं। 2024 में कांग्रेस की कुछ मदद से, सपा ने राज्य की 17 आरक्षित लोकसभा सीटों में से सात और कांग्रेस ने एक सीट जीती, जबकि एनडीए को 8 और 1 सीट चंद्रशेखर को मिली। यह नतीजे दलित मतदाताओं के बीच सपा-कांग्रेस की मजबूत मौजूदगी का बयान हैं।

आगरा सम्मेलन में, जब अखिलेश ने कहा कि "पीडीए में 'डी' का मतलब 'दमदार दलित' है," तो उनका इशारा रवि जैसे कार्यकर्ताओं वाली एक ऐसी मुखर पीढ़ी की ओर था, जो अपनी गरिमा और अधिकारों के लिए सड़कों पर उतरने को तैयार हैं। उन्होंने बताया कि उत्तर प्रदेश में बाबासाहेब अंबेडकर की 200 से ज़्यादा मूर्तियां तोड़ी गई हैं और यह उस हाथ पर प्रहार है, जिसने संविधान की रचना की थी।

26 नवंबर को अखिलेश पार्टी का घोषणापत्र पेश करने वाले हैं। आगरा में उन्होंने इसकी एक झलक दिखाई

सम्मेलन के समन्वयक राज्यसभा सांसद रामजीलाल सुमन ने कहा कि मूर्तियां तोड़ना बताता है कि भाजपा और आरएसएस, अंबेडकर की विरासत को कमज़ोर करना और दलितों को समाज में उनकी 'औकात' दिखाना चाहते हैं। सुमन खुद जाटव हैं, पांच बार सांसद रह चुके हैं और मुलायम सिंह यादव के लंबे समय तक सहयोगी रहे हैं।

2019 से पहले, मायावती प्रायः 1995 के कुख्यात गेस्ट हाउस कांड (जब सपा-बसपा गठबंधन सरकार गिरने के दौरान उन पर हमला हुआ था) का जिक्र करतीं, ताकि बता सकें कि समाजवादी पार्टी जन्मजात दलित-विरोधी है। लेकिन 2024 के लोकसभा चुनाव बाद की स्थिति कुछ अलग दिख रही है- अब सपा राज्य के सभी 18 प्रशासनिक मंडलों में आगरा की तरह ही सम्मेलन आयोजित करने की तैयारी में है। इन मंडलों में राज्य के 75 जिले आते हैं।

*

उत्तर प्रदेश की आबादी में दलित हिस्सेदारी लगभग 20 प्रतिशत है। दशकों तक, बसपा उनके लिए मुख्य राजनीतिक माध्यम रही, लेकिन अब इसके कमजोर होने से भाजपा, सपा, कांग्रेस और अन्य नए राजनीतिक दलों के बीच उनका समर्थन हासिल करने की होड़ है।

चुनावी रुझानों में आया यह बदलाव काफी अहम है। 2007 में बसपा ने राज्य की 86 आरक्षित विधानसभा सीटों में से 62 पर जीत हासिल कर बहुमत वाली सरकार बनाई। 2012 में सपा ने 58 सीटें जीतीं। इसके बाद भाजपा ने गैर-यादव ओबीसी और गैर-जाटव दलितों को अपने साथ जोड़ लिया, जिससे सपा और बसपा दोनों कमजोर हुईं। भाजपा ने 2014 में सभी 17 आरक्षित लोकसभा सीटें जीतीं और 2019 में सपा-बसपा गठबंधन के बावजूद 15 सीटें। 2017 के विधानसभा चुनावों में, भाजपा नीत एनडीए ने 70 आरक्षित सीटें जीतीं और 2022 में 65 । बसपा की स्थिति काफी खराब हो गई; 2017 में उसके पास 19 विधानसभा सीटें थीं, जो 2022 में घटकर सिर्फ एक रह गई। पार्टी के घटते वोट शेयर से भी यही हकीकत सामने आती है, जो 2007 में 30.4 प्रतिशत था, 2017 में घटकर 22.2 प्रतिशत और 2022 में 12.9 प्रतिशत रह गया।

अक्तूबर के आखिर से, मायावती के भतीजे आकाश आनंद, जो अब शायद फिर से उनका भरोसा जीत चुके हैं, ने बुलंदशहर, सहारनपुर, बरेली और बिजनौर में रैलियां की हैं। मकसद बसपा में नई जान फूंकना है। शिकारपुर निवासी बसपा समर्थक हार्डवेयर व्यापारी इमरान मलिक, जो बुलंदशहर की रैली में शामिल हुए थे, बताते हैं कि इस रैली में ब्राह्मणों और मुसलमानों समेत अलग-अलग समुदायों के लोग थे। इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के प्रो. विक्रम हरिजन मानते हैं कि इस बार बसपा का प्रदर्शन बेहतर हो सकता है।

इस बीच, चंद्रशेखर और ओवैसी ने 'सामाजिक परिवर्तन मोर्चा' (सपमो) बनाया है और उनका कहना है कि वे सभी 403 विधानसभा सीटों पर चुनाव लड़ेंगे। उनके निशाने पर सत्ताधारी भाजपा के बजाय अखिलेश यादव हैं, लेकिन ओवैसी के पुराने तौर-तरीके देखते हुए इसपर हैरानी नहीं होनी चाहिए। 2022 में इन दोनों पार्टियों को कुल मिलाकर एक प्रतिशत से भी कम वोट मिले थे, लेकिन 2024 में चंद्रशेखर की 'आज़ाद समाज पार्टी' ने जिन चार लोकसभा सीटों पर चुनाव लड़ा, वहां उसे 14.6 प्रतिशत वोट मिले। यह उनके बढ़ते जनाधार का संकेत है और सपा-कांग्रेस गठबंधन तथा बसपा के लिए कुछ दिक़्क़त खड़ी कर सकता है।

कन्नौज के पंडित सुंदरलाल मेमोरियल कॉलेज के प्रो. शीशपाल गौतम मानते हैं कि चंद्रशेखर ने दलितों के गुस्से को सड़क के आंदोलन (जन-आंदोलन) में बदल दिया है। लेकिन किठौर के वकील नेत्रपाल सिंह का नजरिया कुछ अलग हैः चंद्रशेखर विपक्षी गठबंधन को थोड़ा नुकसान भले पहुंचा दें, मतदाता समझते हैं कि भाजपा को हराने में सिर्फ सपा-कांग्रेस गठबंधन ही सक्षम है, इसलिए संभावना कम ही है कि वे अपना वोट बंटने देंगे।

अखिलेश 26 नवंबर को पार्टी का घोषणापत्र जारी करने वाले हैं। आगरा में उन्होंने इसकी झलक दिखा भी दीः एससी/एसटी के लिए अलग बजट, मजदूरों (जिसमें आगरा की जूता फैक्ट्रियों के मजदूर भी शामिल हैं) के लिए न्यूनतम वेतन और ओवरटाइम और मूर्तियों को नुकसान पहुंचाने के खिलाफ कानूनी सुरक्षा का वादा करके। पार्टी कार्यकर्ताओं से अपने-अपने क्षेत्रों में दलितों की मांगों और चिंताओं को नोट करने को कहा गया है।

दलित वोटों की लड़ाई आरक्षित निर्वाचन क्षेत्रों तक ही सीमित नहीं है। यह लड़ाई है कि उनकी आकांक्षाओं को भरोसेमंद ढंग से कौन पूरा कर सकता है, उन्हें सम्मान, राजनीतिक ताकत, आर्थिक अवसर और शासन-व्यवस्था में सार्थक हिस्सेदारी कौन दिला सकता है। ■

कृपया पेज 5 भी देखें

बिलकिस बानो और न्याय की टिमटिमाती रोशनी

शाहरुख आलम

सुप्रीम कोर्ट के नियम कहते हैं कि दोषसिद्धि के खिलाफ अपील में किसी पीठ के समक्ष मामला सूचीबद्ध होने से पहले ही 'आत्मसमर्पण का प्रमाण-पत्र' जमा किया जाना अनिवार्य है। अगर दोषी ने समर्पण नहीं किया है, तो उसे ठोस कारण बताना होता है और औपचारिक छूट मांगनी पड़ती है, जो गंभीर अपराधों में आसानी से नहीं मिलती।

आपराधिक अपीलों को अदालत द्वारा स्वीकार किए जाने के बाद भी उनके फैसले में लंबा समय लग जाता है। दोषी जेल में कुछ साल की सजा काटने के बाद सजा पर रोक मांगने वापस आता है। वह गुहार लगाता है कि उसकी अपील लंबित है और उसने जेल में दो-तीन साल काट लिए हैं। अदालतें अक्सर सीधे कह सकती हैंः 'एक साल बाद फिर आना।'

यहां एक अजीब अंतर्विरोध दिखता हैः अदालत ने अपील में इतना दम पाया कि उसे विचार के लिए स्वीकार कर लिया, लेकिन वह यह भी जानती है कि मुकदमों के भारी बैकलॉग को देखते हुए अगर अपील लंबित रहने के दौरान दोषी को शुरू में ही छोड़ दिया गया, तो अंततः दोषी पाए जाने पर उसे शायद न्याय के कटघरे में न लाया जा सके। इसलिए अदालतों ने सजा देने का एक अनौपचारिक, स्वविवेकी तरीका निकाल लिया है-यह उस न्यायिक व्यवस्था का एक समझौता है जो मुकदमों के त्वरित निपटारे का भरोसा नहीं दे सकती। यहां इंतजार को ही सजा बना दिया जाता है।

अदालत द्वारा रिहा किए जाने से पहले जेल में कितना समय पर्याप्त माना जाए और किन श्रेणियों के अपराधों में यह लागू हो, यह अलग-अलग न्यायाधीशों के अपने विवेक से तय होता है। बिलकिस बानो के मामले में दोषी पाए गए हमलावरों ने 17 साल की सजा काटी थी, और आम तौर पर इसे रिहा किए जाने के लिए पर्याप्त समय माना जा सकता है। भले इसकी पूरी संभावना बनी रहे कि रिहा किए गए दोषियों के जीवनकाल में अपील का निपटारा ही न हो पाए। लेकिन क्या अदालत ने इस मामले में 'सजा के पर्याप्त समय' का निर्धारण करते समय अपराध की जघन्य प्रकृति को तौला?

अदालतें कुछ मामलों में जेल में बिताए गए वर्षों की तुलना में अपराध की प्रकृति को जरूर प्राथमिकता देती हैं। उदाहरण के लिए, विशेष आतंकवाद कानूनों के तहत उम्रक़ैद की सजा काट रहे ऐसे कई लोग हैं। कुछ लोगों को बहुत मामूली भूमिकाओं के लिए दोषी ठहराया गया था, जैसे वह किशोर लड़का जो एक ट्रक पर क्लीनर का काम करता था, जिससे अवैध हथियार बरामद हुए थे। वह अब अधेड़ हो चुका है और जेल में लगभग 24 साल की सजा काट चुका है।

ऐसे लोग भी हैं जिन्होंने 20 से 32 साल जेल में काटे हैं, और उनके पास सुप्रीम कोर्ट में अपनी दोषसिद्धि के खिलाफ अपील करने के साधन तक नहीं हैं। जब वे अपनी सजा काट रहे होते हैं, तब भी सजा में छूट (रेमिशन) या पैरोल के उनके आवेदनों को नियमित रूप से खारिज कर दिया जाता है। सेंटेंसिंग रिव्यू बोर्ड छूट के आवेदनों को यांत्रिक रूप से खारिज करते हैं, लेकिन आतंकवाद विरोधी कानूनों से जुड़े मामलों में अदालतें अपराध की प्रकृति या पहले से काटी गई सजा के वर्षों की परवाह किए बिना हस्तक्षेप न करने को ही प्राथमिकता देती हैं।

उमर खालिद और शरजील इमाम छह साल से अधिक समय जेल में काट चुके हैं और अदालतों ने अभियोजन पक्ष के अप्रमाणित आरोपों को भी स्वीकार किया है, लेकिन उनकी जमानत अर्जियां अदालतों में लगातार एक कठोर दीवार से टकराकर लौट जाती हैं; आरोप-पत्र में यूएपीए जैसे सख्त आतंकवाद कानून को शामिल किया जाना अदालतों को यह मनमाना दायरा दे देता है।

अदालतें अक्सर राज्य और अभियोजन पक्ष को अपराध की गंभीरता तय करने, या उसी आधार पर जेल से रिहाई देने अथवा खारिज करने के लिए विशेष कानूनों का मनमाना इस्तेमाल करने की पूरी छूट दे देती हैं।

बिलकिस के मामले को एक अलग-थलग आपराधिक घटना की तरह पेश किया गया है, जो अपनी चरम क्रूरता में असाधारण तो है ही, लेकिन यह केवल इतना भर नहीं था। हथियारों से लैस पुरुषों से भरी दो जीपों ने भागते हुए एक मुस्लिम समूह को घेरा, जिसमें पांच महीने की गर्भवती बिलकिस बानो, उनकी चचेरी बहन जिसने दो दिन पहले ही बच्चे को जन्म दिया था, छोटे बच्चे और अन्य बुजुर्ग पुरुष एवं महिलाएं थीं। बिलकिस और हाल ही में मां बनी उनकी बहन के साथ सामूहिक दुष्कर्म किया गया। नवजात शिशु को मार डाला गया, बिलकिस की तीन साल की बेटी की भी हत्या कर दी गई। उस बच्ची को मां की गोद से जबरन छीना गया और उसका सिर पत्थर पर पटक दिया गया। बिलकिस की बहनों, चचेरी बहनों और उनकी मां की उनकी आंखों के सामने हत्या कर दी गई। वह खुद बेहोश हो गईं और शायद उन्हें मृत समझकर छोड़ दिया गया।

ये लोग मुसलमानों के खिलाफ हिंसक उन्माद मचाते रहे क्योंकि उनका मानना था कि गोधरा में हिन्दू तीर्थयात्रियों को ले जा रही साबरमती एक्सप्रेस ट्रेन में लगी आग सांप्रदायिक इरादे से लगाई गई थी। 'बदला' लेने निकली भीड़ ने हर उस मुसलमान को निशाना बनाया जो उन्हें मिला, और लूटपाट, बलात्कार एवं हत्याओं का एक ऐसा तांडव रचा जो गुजरात में तीन दिनों तक बेरोकटोक चलता रहा। बिलकिस और उनके परिवार पर हमला केवल उनके मुस्लिम होने की वजह से किया गया था। बिलकिस के शरीर का इस्तेमाल एक सांप्रदायिक बदला लेने और हिन्दू तीर्थयात्रियों की मौत का हिसाब बराबर करने के लिए किया गया। यह भयानक अपराध कोई अकेली घटना नहीं थी, बल्कि मुसलमानों को निशाना बनाकर चलाए गए एक संगठित नफरती अभियान का हिस्सा था। यह 2002 के गुजरात दंगों के एक बड़े षड्यंत्र का हिस्सा था। वह हिंसा राजनीतिक रूप से प्रेरित थी और उसमें बेखौफ छूट का भाव शामिल था। राज्य प्रशासन, पुलिस और अन्य अधिकारी इसमें पूरी तरह मिले हुए थे।

बिलकिस ने अदालत में बयान दिया है कि हमलावरों का नाम लेने के बावजूद पुलिस ने 'अज्ञात लोगों' के खिलाफ प्राथमिकी दर्ज की। जांच को जान-बूझकर भटकाया गया, और सुराग न मिलने के नाम पर मामले को बंद करने की कोशिश की गई, जब तक कि सुप्रीम कोर्ट ने हस्तक्षेप करके मामला सीबीआई को नहीं सौंप दिया। गवाहों और स्वयं बिलकिस को लगातार धमकियां दी जाती रहीं, जिसके कारण मुकदमे को गुजरात से बाहर स्थानांतरित करना पड़ा। यह जानना जरूरी है कि मुंबई की ट्रायल कोर्ट ने बिलकिस परिवार की महिलाओं के साथ बलात्कार और हत्याओं के लिए ग्यारह लोगों को दोषी ठहराया था। हाईकोर्ट ने उन सजाओं की पुष्टि की, और इसके अलावा सबूतों को जान-बूझकर नष्ट करने के लिए पांच पुलिसकर्मियों और दो सरकारी डॉक्टरों को भी दोषी ठहराया।

वर्ष 2022 में, गुजरात सरकार ने अचानक इन ग्यारह लोगों की सजा माफ कर दी, और उन्हें जेल से रिहा कर दिया गया। सेंटेंसिंग रिव्यू बोर्ड में सरकार द्वारा मनोनीत दस सदस्य थे, जिनका राजनीतिक झुकाव दोषियों की विचारधारा से पूरी तरह मेल खाता था। उनकी रिहाई एक राजनीतिक उत्सव बन गई-जेल से बाहर आने पर उन्हें मालाएं पहनाई गईं और मिठाइयां बांटी गईं। बिलकिस डर और गहरे सदमे में अपना घर छोड़ने को मजबूर हुईं। उनके शरीर पर खेली गई नफरत की वह राजनीति थमी नहीं है; वह सत्ता के केन्द्र में और अधिक स्थापित हो गई है। दोषियों ने न कोई पछतावा दिखाया और न ही उन्हें आत्ममंथन का कोई कारण दिया गया।

शेष पेज 4 पर ▸



बिलकिस बानो के लिए न्याय की मांग करते एक्टिविस्ट

यह भयानक अपराध कोई अकेली घटना नहीं थी, बल्कि मुसलमानों को निशाना बनाकर चलाए गए एक संगठित नफरती अभियान का हिस्सा था

...और अब लद्दाख में दिखावटी चुनाव

दिसंबर में हिल काउंसिल चुनाव कराने की चालबाज़ी

हरजिंदर

देशभर में चुनाव आयोग ने मतदाता सूचियों का विशेष गहन पुनरीक्षण (एसआईआर) कराया। मकसद बड़ी संख्या में मतदाताओं के नाम सूची से हटाना था। सिर्फ तीन जगहों को इससे बाहर रखा गया- जम्मू-कश्मीर, हिमाचल प्रदेश और लद्दाख। लेकिन अब लद्दाख में भी मतदाताओं की संख्या घटाने का अपना तरीका खोज लिया गया है। एसआईआर से लद्दाख को भले ही छूट मिली हो, लेकिन यहां लोकतांत्रिक प्रतिनिधित्व को कमजोर करने की कोशिश हो रही है।

लद्दाख की आठ पर्वतीय परिषदों के चुनाव 4 दिसंबर को होने हैं। दिसंबर में यहां तापमान शून्य से 20 से 30 डिग्री नीचे तक चला जाता है। सड़कें बंद हो जाती हैं। उड़ानें अनिश्चित हो जाती हैं। आबादी का करीब 20 से 25 फीसदी हिस्सा गर्म मैदानी इलाकों की ओर पलायन कर जाता है। जो लोग पीछे रह जाते हैं, वे ज्यादातर समय घरों में कैद रहते हैं। ऐसे में बड़ी संख्या में लोगों के मतदान के लिए निकलने की उम्मीद करना मुश्किल है। बुजुर्गों के लिए तो यह लगभग असंभव है।

लद्दाख के नेता इसे अच्छी तरह समझते हैं। कारगिल डेमोक्रेटिक अलायंस (केडीए) के नेता सज्जाद हुसैन करगिली कहते हैं, "हमने देश के दूसरे हिस्सों में 'वोट चोरी' के आरोप सुने हैं। लद्दाख को प्रयोगशाला बना दिया गया है। यहां लोगों का प्रतिनिधित्व छीन लिया गया है। एकतरफा फैसले साफ तौर पर दिखाते हैं कि लद्दाख में लोकतंत्र की हत्या की जा रही है।"

अब तक लद्दाख में दो जिले थे- लेह और कारगिल। दोनों की अपनी पर्वतीय परिषद थी। प्रशासन ने अब कुल आठ जिले बना दिए हैं। 10 नवंबर को राज्य निर्वाचन आयोग ने सभी आठ परिषदों के चुनावों की घोषणा कर दी। मुख्य सचिव आशीष कुंद्रा ने इसे 'ऐतिहासिक मोड़' बताया। उनका तर्क था कि दिसंबर में चुनाव होने से नई परिषदों को बजट तैयार करने के लिए तीन महीने मिल जाएंगे। लेकिन लद्दाख के सांसद मोहम्मद हनीफा जान का कहना है कि उन्होंने उपराज्यपाल वीके सक्सेना से मार्च या अप्रैल में चुनाव कराने का आग्रह किया था। तब तक लोग वापस लौट आते हैं।

विरोध की वजह सिर्फ चुनाव का समय नहीं है। लेह एपेक्स बॉडी (एलएबी) के नेता सेरिंग दोरजे लकरुक ने नेशनल हेराल्ड से कहा, "इसमें और भी कई समस्याएं हैं। पर्वतीय परिषदों के प्रावधानों में संशोधन किया गया है। उनके अधिकारों में भारी कटौती हुई है। ज्यादातर शक्तियां उपराज्यपाल को सौंप दी गई हैं।" नए जिलों में परिषदों की सीटों के परिसीमन को लेकर भी बड़े पैमाने पर पक्षपात और चुनावी क्षेत्रों की मनमानी पुनर्रचना के आरोप लग रहे हैं।

एलएबी और केडीए ने जब पर्वतीय परिषदों के चुनावों के बहिष्कार का ऐलान किया, तो प्रशासन ने इसका जवाब दमन से दिया।

11 नवंबर को पुलिस ने लेह में प्रदर्शन स्थल से सोनम वांगचुक को हटा दिया। वांगचुक का आरोप है कि नकाबपोश लोगों ने उन्हें जबरन एक गाड़ी में डाला और घर पहुंचा दिया। तब से उनके घर पर करीब 20 हथियारबंद पुलिसकर्मी तैनात हैं। चुनाव आचार संहिता का हवाला देते हुए जारी एक आदेश में उन्हें 60 दिनों तक किसी भी 'अनधिकृत रैली, जुलूस या सार्वजनिक सभा' में शामिल होने से रोक दिया गया है।

> "लद्दाख अब 'वोट चोरी' की टेस्टिंग लैब बन गया है। हमारा प्रतिनिधित्व छीन लिया गया है"

आदेश में 'नजरबंदी' शब्द का इस्तेमाल नहीं किया गया है। वांगचुक का कहना है कि यह उन्हें घर में कैद करने जैसा ही है। केन्द्रीय गृह मंत्री अमित शाह और उपराज्यपाल सक्सेना को लिखे पत्र में उन्होंने कहा कि चुनाव आचार संहिता का शांतिपूर्ण विरोध के अधिकार को खत्म करने या उन्हें घर तक सीमित करने के लिए नहीं किया जा सकता।

वांगचुक के संस्थानों पर भी दबाव बढ़ा है। अगस्त 2025 में लेह प्रशासन ने फ्यांग में उनके हिमालयन इंस्टीट्यूट ऑफ अल्टरनेटिव लर्निंग (एचआईएएल) के लिए आवंटित करीब 54 हेक्टेयर जमीन का आवंटन रद्द कर दिया था। वांगचुक ने इसे 'विच हंट' यानी सुनियोजित उत्पीड़न बताया था।

नवंबर 2026 में प्रशासन ने एचआईएएल को उसके डेजर्ट फ्लावर स्कूल की गतिविधियां बंद करने का नोटिस दिया। एचआईएएल की सीईओ और वांगचुक की पत्नी गीतांजलि अंगमो ने इस नोटिस को आधारहीन बताया है। उनका कहना है कि स्कूल को अनापत्ति प्रमाणपत्र देने की फाइल प्रशासन ने खुद रोक रखी है। सड़कों पर उतरने का रास्ता बंद होने के बाद वांगचुक के पास देश तक अपनी बात पहुंचाने का एकमात्र माध्यम सोशल मीडिया बचा है। एक वीडियो अपील में उन्होंने कहा, "24 सितंबर को लेह में हुई घटनाओं की न्यायिक जांच आयोग की रिपोर्ट (इन घटनाओं में पुलिस फायरिंग में चार लोगों की मौत हुई थी) बेहद धीमी गति से आगे बढ़ रही है। दूसरी ओर, केन्द्रशासित प्रदेश का प्रशासन यहां किसी तरह के 'परिषद चुनाव' कराने में रॉकेट की गति से जुटा है। लगता है कि लोकतंत्र और संवैधानिक सुरक्षा उपायों पर बातचीत के लिए अपनी पसंद के लोगों को बैठाने की तैयारी है।"

खबरों के मुताबिक, कई गांवों के लोगों ने 21 नवंबर को होने वाले पंचायत और स्थानीय निकाय चुनावों से दूर रहने का फैसला किया है।

केन्द्र और लद्दाख के नेतृत्व के बीच बातचीत पिछले महीने से ठप पड़ी है। इस बीच स्थानीय नेता प्रशासन के निशाने पर हैं। उनका आरोप है कि उपराज्यपाल वीके सक्सेना उन्हें बदनाम करने का कोई मौका नहीं छोड़ रहे।

सात नवंबर को वांगचुक ने एक 'स्टिंग ऑपरेशन' की रिकॉर्डिंग जारी कीं। उनके वकीलों ने एक कंटेंट क्रिएशन कंपनी के मालिक की बातचीत रिकॉर्ड की थी। आरोप है कि उसने कहा कि उसकी कंपनी उपराज्यपाल की टीम के साथ मिलकर ऐसा कंटेंट तैयार कर रही है, जिससे वांगचुक की छवि खराब हो और उपराज्यपाल की छवि चमके।

वांगचुक का कहना है कि उन्होंने शुरुआत में यह सामग्री इंटेलिजेंस ब्यूरो के निदेशक को सौंपी थी। कोई नतीजा नहीं निकला, तो उन्होंने इसे सार्वजनिक कर दिया। वांगचुक ने कहा कि यह रिकॉर्डिंग "साबित करती है कि उपराज्यपाल प्रशासन सीधे तौर पर गैरकानूनी बदनाम करने वाले अभियानों में शामिल है।" उन्होंने राष्ट्रपति द्रौपदी मुर्मू से भी शिकायत की है।

अक्तूबर में उपराज्यपाल ने इंडिया टुडे कॉन्क्लेव में वांगचुक पर तीखा तंज कसा था। उन्होंने कहा कि लोग वांगचुक को पर्यावरणविद बताते हैं, लेकिन उन्होंने कितने पेड़ लगाए हैं? सक्सेना शायद यह भूल गए कि लद्दाख एक ऊंचाई पर स्थित ठंडा रेगिस्तानी इलाका है। इसका बड़ा हिस्सा पेड़ों की प्राकृतिक सीमा से ऊपर है। यहां मेहनत से सिंचाई के बावजूद पौधों के जीवित रहने की गारंटी नहीं होती। वांगचुक का काम जंगलों से नहीं, बल्कि पानी और ग्लेशियरों को बचाने से जुड़ा है।

केन्द्रीय गृह मंत्रालय की उपसमिति ने एलएबी और केडीए के साथ 22 मई को एक बैठक की थी। दोनों पक्षों ने एक सहमति बनने का ऐलान किया था। इसके तहत केन्द्रशासित प्रदेश के स्तर पर एक निर्वाचित निकाय को विधायी, कार्यकारी और वित्तीय शक्तियां देने का प्रस्ताव था। मुख्य सचिव समेत सभी नौकरशाह इस निकाय के कार्यकारी प्रमुख के प्रति जवाबदेह होते। इस पद के लिए मुख्यमंत्री का प्रस्ताव था।

लेकिन पांच महीने बाद मंत्रालय अपने वादे से पीछे हट गया। 15 अक्तूबर को लेह में हुई बैठक में उसने 32 पन्नों का एक मसौदा पेश किया। दोनों संगठनों ने इसे खारिज कर दिया। उन्होंने इसे 'पुराना प्रशासनिक मॉडल' बताया। इसकी तुलना पूर्वोत्तर के पुराने नॉर्थ-ईस्ट फ्रंटियर एजेंसी (नेफा) से की। वांगचुक ने कहा, "उन्होंने एक बार फिर अपना वादा तोड़ दिया।" मुख्य सचिव कुंद्रा ने सफाई दी कि लद्दाख को पहले ही बता दिया गया था कि उसे न तो पूर्ण राज्य का दर्जा मिलेगा और न ही विधानसभा वाला केvdद्रशासित प्रदेश बनाया जाएगा।

इन वार्ताओं के दौरान लद्दाख के नेतृत्व को अपनी सबसे बड़ी मांग से भी पीछे हटना पड़ा था। यह मांग संविधान की छठी अनुसूची के तहत सुरक्षा देने की थी। लकरुक कहते हैं, "हम मोदी और अमित शाह से मिले थे। दोनों ने कहा कि छठी अनुसूची के तहत सुरक्षा नहीं दी जा सकती। इसके बजाय हमें संविधान के अनुच्छेद 371ए के तहत सुरक्षा देने का प्रस्ताव दिया गया।" अब सरकार इस वादे से भी पीछे हट चुकी है।

नामांकन की प्रक्रिया खत्म हो चुकी है। अब 4 दिसंबर को चुनाव होने हैं। केडीए के सह-अध्यक्ष असगर अली करबलई ने चेतावनी दी है कि अगर गृह मंत्रालय 22 मई को बनी सहमति पर वापस नहीं लौटता, तो लद्दाख के लोग "सड़कों पर उतरेंगे, आंदोलन करेंगे और जेल जाने के लिए तैयार रहेंगे।"

लद्दाख के ज्यादातर संगठित राजनीतिक और सामाजिक संगठनों के बहिष्कार के बीच होने वाले ये चुनाव कई सवाल खड़े करते हैं। चुनाव ऐसे मौसम में कराए जा रहे हैं, जब बड़ी संख्या में मतदाता लद्दाख से बाहर होंगे। ऐसे में इन चुनावों से प्रतिनिधित्व का सवाल सुलझने के बजाय और उलझ सकता है। ■

फोटो: गेटी इमेजेज



कड़ाके की ठंड शुरू होने से पहले लद्दाख के लोग 'सुरू उत्सव' मनाने के लिए एक साथ आते हैं

बिलकिस बानो और न्याय की टिमटिमाती रोशनी

पेज तीन का शेष

इसके बजाय, हिंसा में उनकी भूमिका के लिए उनका सम्मान किया गया।

वर्ष 2024 में सुप्रीम कोर्ट ने फिर दखल दिया और फैसला सुनाया कि गुजरात सरकार के पास सजा में छूट देने का कोई अधिकार नहीं था क्योंकि मुकदमे की सुनवाई महाराष्ट्र में हुई थी। दोषियों को वापस जेल जाना पड़ा।

अब उनमें से दो को सुप्रीम कोर्ट ने इस आधार पर सजा पर रोक लगाते हुए रिहा कर दिया है कि उनकी अपीलें लंबित हैं और वे 'पहले ही लंबी सजा काट चुके हैं'। यह आदेश पारित होने से पहले बिलकिस को न तो कोई नोटिस दिया गया और न ही उनका पक्ष सुना गया। अगर वह अदालत में मौजूद होतीं, तो शायद दोहरातीं कि समाज में दोषियों का खुलेआम घूमना और उनके हिंसक कृत्य को राजनीतिक जीत की तरह मनाया जाना उनके भीतर गहरा खौफ पैदा करता है। वास्तव में, जमानत पर छूटे किसी व्यक्ति का ऐसा आचरण सामान्य तौर पर जमानत रद्द करने की वजह बनता है। लेकिन बिलकिस के हमलावरों के लिए ऐसा कोई नियम लागू नहीं हुआ।

बिलकिस के मामले को आतंकवाद के एक कृत्य के रूप में दर्ज किया जा सकता था। उस समय उसका मकसद पूरे समुदाय में आतंक फैलाना था। अपराधियों का प्रत्येक सार्वजनिक सम्मान आतंक के उस कृत्य का ही दोहराव है। अभियोजन पक्ष कम-से-कम विशेष कानूनों का इस्तेमाल कर सकता था। लेकिन अंततः उन ग्यारह लोगों पर केवल एक गैर-कानूनी जमावड़े का हिस्सा होने, बलात्कार और हत्या करने का मुकदमा चलाया गया। किसी आपराधिक मामले की कानूनी धाराएं तय करना अपने आप में एक गहरा राजनीतिक फैसला होता है।

कानून यह मानकर चलता है कि वह अलग-थलग दायरे में काम करता है: हर मामले का फैसला उसके गुण-दोष के आधार पर, एक संपूर्ण इकाई मानकर किया जाता है। लेकिन जब विभिन्न मामलों के व्यापक पैटर्न को देखा जाता है, तो न्याय का तराजू हमेशा हाशिये के लोगों के खिलाफ ही झुकता हुआ दिखाई देता है। ■

शाहरुख आलम संवैधानिक मामलों की वकील और मानवाधिकार कार्यकर्ता हैं

गोकुल पर पिछले दरवाजे से कब्जा

महाराष्ट्र की सहकारी संस्थाओं पर गहराता सरकारी शिकंजे का साया

जयदीप हर्डीकर

कोल्हापुर के राजनीतिक हलकों में कहावत आधी-मजाकिया और आधी-गंभीर शैली में कही जाती है: 'बेशक मुझे विधायक मत बनाओ, एक बार गोकुल का निदेशक जरूर बना दो!'

इस जिला दुग्ध सहकारी संघ का ऐसा दबदबा है कि हर राजनीतिक आकांक्षी इसके निदेशक मंडल में शामिल होना चाहता है। हाल ही में संपन्न चुनाव इसका ताजा उदाहरण है। 25 निदेशक पदों के लिए 50 उम्मीदवारों ने चुनावी मुकाबला लड़ा, जिसका अंत राज्य सरकार द्वारा अंतिम क्षणों में किए गए एक विवादित हस्तक्षेप और संस्था पर नियंत्रण के रूप में हुआ।

19 अक्तूबर को, जब कांग्रेस-समर्थित पैनल ने 13 सीटें जीतीं और महायुति-समर्थित पैनल को 12 सीटें मिलीं, तो मामूली अंतर के बावजूद यह एक स्पष्ट और निर्णायक जीत थी। लेकिन सत्ता समीकरणों ने इस जनादेश को नाटकीय ढंग से बदल दिया। 6 नवंबर को, राज्य सरकार ने महाराष्ट्र सहकारी समिति अधिनियम (एमसीएसए) में संशोधन करते हुए आनन-फानन में अध्यादेश जारी किया। इसके तहत 500 करोड़ रुपये से अधिक के सालाना कारोबार वाली सहकारी संस्थाओं में सरकार द्वारा पांच सदस्यों को मनोनीत करने की अनुमति दी गई। इनमें से चार को पदाधिकारियों के चुनाव में मतदान का अधिकार दिया गया, जबकि पांचवां सदस्य-जो एक सरकारी अधिकारी होगा-बिना मताधिकार वाला सदस्य रहेगा। यद्यपि सहकारी कानून बेहतर प्रबंधन के उद्देश्य से संस्थाओं को विशेषज्ञों को मनोनीत करने की अनुमति देते हैं, लेकिन यह पहला अवसर था जब राज्य सरकार ने कार्यकारी पदों के चुनाव में मनोनीत सदस्यों को वोट देने का अधिकार दिया।

तीन दिन बाद, महायुति-समर्थित राजेश पाटिल गोकुल के अध्यक्ष चुने गए। उन्हें 16 मत मिले, जबकि उनके कांग्रेस-समर्थित प्रतिद्वंद्वी को 13 मत। सरकार द्वारा मताधिकार संपन्न चार मनोनीत सदस्यों ने आशंका के अनुकूल ही नतीजे को पलट दिया। बॉम्बे हाईकोर्ट ने अंतरिम स्तर पर इस अध्यादेश पर रोक लगाने से इनकार कर दिया है। अध्यादेश को दी गई चुनौती अभी कोर्ट में लंबित है।



महायुति समर्थित राजेश पाटिल गोकुल के अध्यक्ष चुने गए

राजनीतिक महत्व

गोकुल कोई साधारण दुग्ध संघ नहीं। वर्ष 1963 में सहकारी नेताओं एन.टी. सरनायक और आनंदराव पाटिल-चुयेकर द्वारा स्थापित यह संस्था एक किराये के कमरे से शुरू हुई। इसका प्रसंस्करण और वितरण नेटवर्क कोल्हापुर, पुणे, मुंबई, नवी मुंबई, ठाणे और गोवा तक है। गोकुल का दावा है कि दूध बिक्री से आने वाले प्रत्येक रुपये का 76- 82 प्रतिशत दूध के मूल्य और कल्याणकारी सेवाओं के जरिये उत्पादक किसानों को लौटाया जाता है।

गोकुल को व्यावसायिक आकार ही महत्वपूर्ण नहीं बनाता। ग्रामीण अर्थव्यवस्था में इसकी गहरी पैठ और ग्राम-स्तरीय समितियों तक इसकी पहुंच इसे प्रभावशाली राजनीतिक मंच बनाती है। किसी विधायक का चुनावी क्षेत्र केवल एक विधानसभा क्षेत्र तक होता है। जबकि, गोकुल का निदेशक जिले की ग्रामीण अर्थव्यवस्था, दुग्ध उत्पादकों और प्रभावशाली ग्रामीण प्रतिनिधियों तक सीधा प्रभाव रखता है। यह पहुंच लोकसभा-विधानसभा चुनावों के नतीजे तय करने की ताकत रखती है।

चुनावी राजनीति के लंबे इतिहास के बावजूद, गोकुल ने हमेशा राज्य सरकार के सीधे हस्तक्षेप को खारिज किया है। लगभग तीन दशकों तक इसका प्रबंधन स्थानीय कांग्रेसी दिग्गजों महादेवराव महाडिक और दिवंगत पी.एन. पाटिल के प्रभाव में रहा।

वर्ष 2021 में, कांग्रेस नेता सतेज पाटिल के नेतृत्व और तत्कालीन राकांपा निष्ठावान हसन मुश्रीफ के समर्थन वाले महा विकास अघाड़ी-समर्थित 'शाहू शेतकरी अघाड़ी' ने लड़ी गई 21 में से 17 सीटें जीतकर पुराने गुट के वर्चस्व को खत्म कर दिया था। राकांपा में विभाजन के बाद, मुश्रीफ अजित पवार के साथ चले गए और महायुति सरकार में मंत्री बन गए, जबकि सतेज पाटिल कांग्रेस के साथ रहे। कोल्हापुर के विधायकों और सांसदों सहित सत्तारूढ़ महायुति की तमाम ताकत के बावजूद, सतेज पाटिल ने अपनी 'राजर्षि शाहू शेतकरी समविचारी अघाड़ी' के जरिए अपना प्रभाव बनाए रखा।

अब बात 2026 के ताजा चुनाव की। कुल 5,418 पात्र मतदाताओं में से 5,416 ने अपने मताधिकार का इस्तेमाल किया-जो 99.96 प्रतिशत का असाधारण मतदान था। कोल्हापुर की 12 में से 10 तालुकों में शत-प्रतिशत मतदान दर्ज किया गया। मतगणना 12 घंटे से अधिक समय तक चली। शुरुआती दौर में पाटिल का गुट महायुति-समर्थित 'छत्रपति शाहू शेतकरी विकास अघाड़ी' की नौ सीटों के मुकाबले 16 सीटों पर आगे दिख रहा था। पुनर्गणना के बाद यह आंकड़ा 14-11 हुआ और अंततः अंतिम परिणाम 13-12 रहा।

> गोकुल की राजनीतिक पूंजी का आधार उसका विस्तार और राज्य की ग्रामीण अर्थव्यवस्था में उसकी गहरी पैठ है

पराजित होने वालों में मंत्री हसन मुश्रीफ के बेटे और निवर्तमान गोकुल अध्यक्ष नाविद मुश्रीफ, भाजपा सांसद धनंजय महाडिक की भाभी शौमिका महाडिक और गोकुल के पूर्व अध्यक्ष अरुण डोंगले शामिल थे।

जनता और प्रतिनिधियों का स्पष्ट जनादेश सतेज पाटिल के नेतृत्व वाले पैनल के पक्ष में था, जो गोकुल के संस्थापक आनंदराव पाटिल-चुयेकर के बेटे शशिकांत चुयेकर को अध्यक्ष पद पर बैठाना चाहता था। लेकिन इसके बाद लाए गए सरकारी अध्यादेश ने मुश्रीफ के गुट को पूर्व विधायक राजेश पाटिल को अध्यक्ष बनवाने का रास्ता साफ कर दिया।

इसके बाद से मुश्रीफ और सतेज पाटिल दोनों ने सुलह भरे बयान दिए। इसके बावजूद, पूरे महाराष्ट्र में यह स्पष्ट संदेश गया है कि भाजपा ने सहकारी संस्थाओं पर कब्जे की रणनीति के तहत गोकुल के चुनावी जनादेश को जबरन पलट दिया ताकि अपने मनपसंद व्यक्ति को सत्ता में बिठाया जा सके।

सत्ता में होने के बावजूद, फडणवीस के नेतृत्व वाली पार्टी महाराष्ट्र की सहकारी संस्थाओं-प्रमुख बैंकों और कृषि उपज मंडी समितियों से लेकर चीनी मिलों और डेयरियों तक-में निर्णायक पैठ बनाने के लिए लगातार जूझती रही है। ऐसा करने के लिए वह लगातार अपने सहयोगियों, स्थानीय क्षत्रपों और सरकारी मशीनरी के दखल का सहारा ले रही है। यह रणनीति केंद्रीय गृह व सहकारिता मंत्री अमित शाह के नेतृत्व वाले सहकारिता मंत्रालय के माध्यम से राष्ट्रीय स्तर पर चलाए जा रहे एजेंडे से पूरी तरह मेल खाती है।

बड़ा सवाल

सहकारी संस्थाओं की नींव संसाधनों को साझा करने, छोटे उत्पादकों को संगठित करने, आसान ऋण उपलब्ध कराने और सामूहिक सौदेबाजी की ताकत विकसित करने के लिए रखी गई थी। महाराष्ट्र, खासकर पश्चिमी महाराष्ट्र के गन्ना बेल्ट में, इन संस्थाओं ने ऋण, बाजार, प्रसंस्करण सुविधाओं, रोजगार, शिक्षा और सामाजिक कल्याण तक सीधी पहुंच देकर ग्रामीण अर्थव्यवस्था की तस्वीर बदल दी। उन्होंने जमीनी स्तर के राजनीतिक नेतृत्व की एक नई पीढ़ी को भी तैयार किया।

समय बीतने के साथ, ये संस्थाएं राजनीतिक प्रभाव के केंद्र और सरकारी हस्तक्षेप का आसान निशाना बनती चली गईं। किसी चीनी मिल, जिला सहकारी बैंक या दुग्ध संघ पर नियंत्रण का सीधा अर्थ हजारों सदस्यों, कर्मचारियों, कर्जदारों और आपूर्तिकर्ताओं पर राजनीतिक प्रभाव कायम करना बन गया। महाराष्ट्र राज्य सहकारी बैंक इसका उदाहरण है।

वर्ष 2011 में, नाबार्ड द्वारा गंभीर वित्तीय और प्रशासनिक गड़बड़ियों की पहचान किए जाने के बाद, रिजर्व बैंक ने इसके निदेशक मंडल को बर्खास्त करने की सिफारिश की थी। महाराष्ट्र के सहकारी समिति पंजीयक ने मई 2011 में प्रशासक नियुक्त कर दिए। उस समय इस कदम को संस्था और उसके जमाकर्ताओं के हितों की रक्षा के लिए जायज ठहराया गया था।

संस्थागत संकट से निपटने के लिए शुरू की गई वह व्यवस्था आगे चलकर एक बेहद लंबी प्रशासनिक औपचारिकता बन गई। तब से इस बैंक में निर्वाचित निदेशक मंडल नहीं बन सका और यह राज्य नियुक्त प्रशासक के अधीन काम कर रहा है।

गोकुल के मामले में, राज्य सरकार ने अपने सहयोगी दल को संस्था सौंपने के लिए सीधा हस्तक्षेप किया। इसने पिछले दरवाजे से राजनीतिक कब्जे का रास्ता तैयार किया। 6 नवंबर का अध्यादेश बेहद व्यापक है: इसके तहत 500 करोड़ रुपये से अधिक के वार्षिक कारोबार वाली किसी भी सहकारी संस्था पर सत्तारूढ़ गठबंधन द्वारा वैसे ही कब्जा किया जा सकता है, यदि वह लोकतांत्रिक चुनाव में पराजित हो जाए।

ये दोनों उदाहरण साझी समस्या को उजागर करते हैं: शेयरधारकों को केवल मूकदर्शक बनाकर यह हुकूमत सहकारी निर्णय-प्रक्रिया के मूल विचार की हत्या कर रही है। ■



श्री कृष्ण जन्मभूमि मंदिर में दर्शन-पूजन करते उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री योगी आदित्यनाथ

राज्य 360° • लखनऊ उत्तर प्रदेश

राम के बाद राधे नाम का सहारा

राजेंद्र चन्द्रकान्त राय

भारतीय जनता पार्टी अगले साल होने वाले उत्तर प्रदेश विधानसभा चुनावों में राधा नाम लेकर जीतने के जुगाड़ में है। साफ है कि अपना कामकाज दिखाने के लिए उसके पास कुछ भी नहीं है। भाजपा ने 1992-93 में इसी किस्म से धार्मिक उन्माद फैलाकर देश को सांप्रदायिक जुनून के हवाले कर दिया था। दरअसल, यूपी विधानसभा चुनाव उसके लिए केवल एक राज्य का चुनाव नहीं है, वह 2029 के लोकसभा चुनाव के दौरान दिल्ली की सत्ता तक पहुंचने का रास्ता भी है।

16 और 17 नवंबर को मथुरा में हुई बैठक को पार्टी ने मंथन/चिंतन शिविर का नाम दिया था। इसमें पार्टी के राष्ट्रीय संगठन महामंत्री बी. एल. संतोष, राज्य के मुख्यमंत्री और पार्टी के प्रदेश अध्यक्ष के अलावा भाजपा के राष्ट्रीय अध्यक्ष नितिन नबीन ने भी हिस्सा लिया। बाद में नबीन ने केन्द्रीय गृह मंत्री अमित शाह को शिविर में लिए गए निर्णयों और वहां हुई बातों के बारे में जानकारी भी दी। चूंकि जनवरी में विधानसभा चुनाव की तिथियों की घोषणा संभावित है, इसलिए इस बैठक का खासा महत्व था। शिविर में चुनावी तैयारियों, सहयोगी दलों के साथ तालमेल और विपक्ष के आरोपों का माकूल जवाब देने-जैसे विषयों पर मंथन किया गया। इस बैठक में प्रदेश अध्यक्ष पंकज चैधरी ने 'राधे-राधे, कमल खिला दे' का नारा लगाया। मतलब साफ है कि इस बार पार्टी का यही नारा रहने वाला है। पार्टी की रणनीति में भव्य मथुरा मंदिर निर्माण, समान नागरिक संहिता (यूजीसी) लागू करना, कानून-व्यवस्था और विकास के मुद्दे शामिल हैं।

लग यही रहा है कि पार्टी मथुरा में श्रीकृष्ण जन्मभूमि और उससे जुड़े विवाद के मुद्दे को अपनी चुनावी नैया पार लगाने का जरिया बनाने को उतावली है। यह मामला मथुरा के कटरा केशव देव परिसर में स्थित श्रीकृष्ण जन्मभूमि मंदिर और उससे जुड़ी शाही ईदगाह मस्जिद से जुड़ा है। इस परिसर की जमीन और मौजूदा निर्माणों को हटाने-बदलने से जुड़े कई मुकदमे अदालतों में विचाराधीन हैं। भाजपा ने मथुरा में बैठक आयोजित कर यही संकेत देने कर प्रयास किया है कि श्रीकृष्ण जन्मभूमि पर रामजन्म भूमि जैसे एक और भव्य मंदिर का निर्माण करने का वादा ही उनके चुनाव अभियान के केन्द्र में रहेगा।

इस नारे और प्रयास के पीछे के मनोविज्ञान को समझने की जरूरत है। पार्टी ने अयोध्या आंदोलन के दौरान ही यह नारा लगाया गया था कि 'अयोध्या तो झांकी है, काशी-मथुरा बाकी है'। यह उस आंदोलन का सबसे चर्चित और सांप्रदायिक उन्माद पैदा करने में सबसे कारगर नारे के रूप में याद किया जाता है। 6 दिसंबर 1992 को अयोध्या में बाबरी मस्जिद शहीद कर दी गई। यह ठीक है कि अपना चेहरा छिपाने के लिए भाजपा इस नारे का पिछले काफी वर्षों से उपयोग नहीं कर रही है लेकिन अब साफ है कि हिन्दुत्ववादी संगठनों और उनके कार्यकर्ताओं के बीच व्यापक रूप से लोकप्रिय हो गए उसी किस्म के नारे के जुनून पर पार्टी फिर सवारी करना चाह रही है।

परोक्ष तरीके से ही सही, आरएसएस और भाजपा पोषित हिन्दुत्ववादी संगठन किसी-न-किसी बहाने वाराणसी के ज्ञानवापी मस्जिद-काशी विश्वनाथ परिसर और मथुरा के शाही ईदगाह-श्रीकृष्ण जन्मभूमि विवादों को जब-तब उठाते रहे हैं। ध्यान रहे कि बाबरी मस्जिद शहीद किए जाने से पहले से इस किस्म का खतरा सामने था, इसीलिए 1992 में तत्कालीन केन्द्र सरकार ने इस तरह के आंदोलनों और धार्मिक स्थलों पर दावों से संबंधित विवादों को रोकने के लिए पूजा स्थल (विशेष प्रावधान) अधिनियम 1991 पारित किया था। इस कानून के तहत 15 अगस्त 1947 को मौजूद सभी धार्मिक स्थलों की स्थिति को यथावत बनाए रखने का प्रावधान किया गया है, जिसमें केवल अयोध्या वाले विवाद को ही छूट दी गई थी। लेकिन पिछले डेढ़-दो वर्षों में हिन्दुत्ववादी संगठनों ने न जाने कितनी मस्जिदों के नीचे मंदिर होने के दावे किए हैं। इनमें से कई को लेकर मुकदमे भी शुरू हो गए हैं। ऐसे मामलों में सुप्रीम कोर्ट से लेकर निचली अदालतों तक के रवैये सबके सामने हैं।

फिर भी, पार्टी की बेचैनी समझ में आने लायक है। चुनाव आयोग द्वारा एसआईआर के माध्यम से बड़ी तादाद में देश भर में हटाए गए मतदाताओं के नामों के लेकर विपक्ष की सघन एकजुटता, अयोध्या के राममंदिर में चढ़ावा और चंदे में प्राप्त करोड़ों रुपयों की चोरी, मुख्यमंत्री योगी आदित्यनाथ की नरेन्द्र मोदी-अमित शाह के साथ कथित तकरार और हालिया एमएलसी चुनाव में भाजपा की पराजय जैसे कारण पार्टी के लिए चुनौती हैं।

यही हताशा है कि योगी की भाषा बदल गई है। वोटर गायब करने के लिए चुनाव आयोग पर कांग्रेस और अन्य विपक्षी दल जब सबूतों के साथ आरोप लगाते रहे थे, तो भाजपा और भाजपा-पोषित मीडिया उसकी खिल्ली उड़ाती थी। पर नवंबर के दूसरे हफ्ते में एक टीवी चैनल के कार्यक्रम में खुद योगी आदित्यनाथ ने आरोप लगाया कि चुनाव आयोग ने यूपी के 1.27 करोड़ हिन्दू मतदाताओं के नाम वोटर लिस्ट से काट दिए हैं।

चुनाव आयोग ने यह कहकर बचने की कोशिश की कि वह धर्म और जाति के आधार पर डेटा नहीं रखता है। लेकिन आयोग ने 17 नवंबर को जारी ड्राफ्ट सूची में 18.84 लाख और मतदाता जोड़ दिए हैं। राज्य में एसएसआर (स्पेशल समरी रिवीजन) चल रहा है और इसमें और लोगों के नाम जोड़ने का जुगाड़ करने के लिए भाजपा ने अपने सारे घोड़े खोल दिए हैं।

> भाजपा के पास बताने को कुछ नहीं है। इसलिए वह मथुरा में श्रीकृष्ण जन्मभूमि और उससे जुड़े विवाद के मुद्दे को अपनी चुनावी नैया पार लगाने का जरिया बनाने को उतावली है

बैसाखी का इंतजाम भी

एआईएमआईएम प्रमुख असदुद्दीन ओवैसी और आजाद समाज पार्टी (कांशीराम) के प्रमुख चंद्रशेखर आजाद ने 2027 के उत्तर प्रदेश विधानसभा चुनाव के लिए 'सामाजिक परिवर्तन मोर्चा' नामक गठबंधन का ऐलान किया है और वे सभी 403 सीटों पर चुनाव लड़ेंगे। ओवैसी ने नगीना से सांसद चंद्रशेखर आजाद को गठबंधन की ओर से मुख्यमंत्री पद का चेहरा भी घोषित कर दिया है। ओवैसी मुस्लिमों को और चंद्रशेखर दलितों को अपनी तरफ आकर्षित करने की होड़ में हैं। यूपी में दोनों समुदायों के लगभग 40 फीसदी वोट होते हैं।

लेकिन जरा रुकिए। यूपी में इन दोनों के चुनावी इतिहास के आंकड़ों पर नजर डालना जरूरी है। ओवैसी की पार्टी ने 2022 चुनावों में 100 सीटों पर उम्मीदवार उतारे थे और इस पार्टी ने 0.43 प्रतिशत वोट हासिल किए थे। पार्टी ने लोकसभा चुनावों में यूपी में प्रत्याशी नहीं दिए थे। चंद्रशेखर आजाद अपनी पार्टी से अकेले सांसद हैं। उनके समेत चार प्रत्याशी पिछले लोकसभा चुनाव में थे। पार्टी को 14.6 प्रतिशत वोट मिले थे। पार्टी को पिछले विधानसभा चुनाव में 0.93 प्रतिशत वोट मिले थे।

जब ऐसे परिणाम रहे हों, तब इस गठबंधन के कथित थर्ड फ्रंट बनने पर राजनीतिक गलियारों में कनबतियां स्वाभाविक ही हैं। हालांकि सबूत नहीं हैं, पर यह चर्चा चल तो निकली ही है कि ओवैसी और चंद्रशेखर के पीछे ठोस आर्थिक मदद भाजपा की है, ताकि ओवैसी मुस्लिम वोटों में सेंध लगाकर समाजवादी पार्टी को और चंद्रशेखर दलित वोटों में सेंधमारी करके कांग्रेस को नुकसान पहुंचाएं। भाजपा को उम्मीद है कि उसे इस तरीके से लाभ मिलेगा। पर असलियत यह है कि मुसलमान भावुक होकर नहीं, रणनीतिक तरीके से वोट करता है और उसकी रणनीति में भाजपा को हराना ही प्राथमिकता में हुआ करता है। आखिर, भाजपा की तरफ से सबसे ज्यादा प्रताड़ना भी तो वही लगातार झेल रहा है। वह ओवैसी के झांसे में नहीं आने वाला है। इसी तरह दलित भी चंद्रशेखर के संसदीय क्षेत्र में व्यक्तिगत आधार पर भले ही उन पर भरोसा करते हों, पर वे नगीना से बाहर उनके नाम पर अपने वोट को भाजपा की झोली में जाने देना शायद ही गवारा करें। ■

विकास की चमक के पीछे ज्ञान की विरासत का अंधेरा

पुस्तकालय की उपेक्षा ज्ञान-संपदा और बौद्धिक विरासत के प्रति उदासीनता का संकेत

शैलेन्द्र चौहान

किसी देश की बौद्धिक संपन्नता का आकलन केवल उसके विश्वविद्यालयों, अनुसंधान संस्थानों, तकनीकी उपलब्धियों और भव्य सरकारी भवनों से नहीं किया जा सकता। यह भी देखना पड़ता है कि वह देश अपने ज्ञान-संसाधनों, पुस्तकों, पांडुलिपियों, अभिलेखों और पुस्तकालयों के साथ कैसा व्यवहार करता है। पुस्तकालय किसी समाज के लिए केवल पुस्तकों को रखने की जगह नहीं होते। वे उसकी सामूहिक स्मृति, ऐतिहासिक अनुभव, बौद्धिक विकास और सांस्कृतिक निरंतरता के संस्थान होते हैं। किसी पुस्तकालय की उपेक्षा वस्तुतः उस समाज की ज्ञान-संपदा और अपनी बौद्धिक विरासत के प्रति उदासीनता का संकेत है।

दिल्ली की 135 वर्ष पुरानी सेंट्रल सेक्रेटेरिएट लाइब्रेरी को लेकर इन दिनों जो विवाद सामने आया है, वह इसी व्यापक प्रश्न की ओर हमारा ध्यान खींचता है। सेंट्रल विस्टा पुनर्विकास परियोजना के अंतर्गत शास्त्री भवन को हटाया जाना है। इसी भवन में स्थित केन्द्रीय सचिवालय पुस्तकालय की लगभग साढ़े आठ लाख पुस्तकों को दूसरी जगह स्थानांतरित करने की तैयारी है। लेकिन इस प्रक्रिया में पुस्तकालय के भविष्य, पुस्तकों के संरक्षण, उनके उपयोग और नई जगह पर आवश्यक सुविधाओं को लेकर जिस तरह की अनिश्चितता दिखाई दी है, उससे सरकारी प्राथमिकताओं पर गंभीर सवाल उठते हैं।

इस प्रसंग को केवल एक पुराने पुस्तकालय के स्थानांतरण की प्रशासनिक समस्या मानना पर्याप्त नहीं होगा। यह हमारे यहां पठन संस्कृति, सार्वजनिक ज्ञान संस्थानों, ऐतिहासिक विरासत और शासन की सांस्कृतिक दृष्टि से जुड़ा हुआ मामला है।

सेंट्रल सेक्रेटेरिएट लाइब्रेरी का महत्व केवल पुस्तकों की संख्या में नहीं है। इसमें सरकारी प्रकाशनों, प्रशासनिक दस्तावेजों, संदर्भ ग्रंथों, विभिन्न विषयों की पुस्तकों, दुर्लभ संस्करणों और ऐतिहासिक सामग्री का बड़ा संग्रह है। इसके दुर्लभ पुस्तकों वाले खंड में 5,545 शीर्षक हैं। इनमें सबसे पुरानी पुस्तक 1702 में प्राप्त हुई थी। इस तरह इसका संग्रह भारतीय प्रशासनिक, सामाजिक और बौद्धिक इतिहास के अध्ययन के लिए भी महत्वपूर्ण है।

पुस्तकालय की इमारत बदल देना और पुस्तकालय को सुरक्षित रखना दो अलग-अलग बातें हैं। पुस्तकों का किसी दूसरी इमारत में पहुंच जाना अपने आप में संरक्षण नहीं है। उनका व्यवस्थित वर्गीकरण, सूचीकरण, तापमान और आर्द्रता का नियंत्रण, कीटों से सुरक्षा, डिजिटलीकरण और पाठकों की पहुंच सुनिश्चित करना भी उतना ही आवश्यक है।

यहां एक बुनियादी सवाल उठता है। क्या विकास का अर्थ केवल नए भवन बनाना है? क्या किसी देश की आधुनिकता उसके सरकारी परिसरों की भव्यता से तय होगी या इस बात से भी कि वहां ज्ञान अर्जित करने, विचार करने और शोध करने की कितनी स्वतंत्र तथा सक्षम संस्थाएं हैं?

सेंट्रल विस्टा जैसी परियोजना का औचित्य और उसकी स्थापत्य संबंधी उपयोगिता अलग बहस हो सकती है, लेकिन उसके नाम पर किसी ऐतिहासिक पुस्तकालय की बौद्धिक निरंतरता बाधित नहीं होनी चाहिए। विकास की परियोजना में पुस्तकालय को भी उसी गंभीरता से स्थान मिलना चाहिए जिस गंभीरता से कार्यालयों और प्रशासनिक सुविधाओं की योजना बनाई जाती है।

इस मामले का एक और पहलू कहीं अधिक गंभीर है। सेंट्रल सेक्रेटेरिएट लाइब्रेरी से जुड़ी तुलसी सदन लाइब्रेरी की लगभग दो लाख से अधिक पुस्तकें पिछले पंद्रह वर्षों से आरके पुरम में डिब्बों में बंद पड़ी हैं। यह संग्रह 1972 में रामचरितमानस के चार सौ वर्ष पूरे होने के अवसर पर स्थापित किया गया था। इसमें हिंदी के अलावा असमिया, बांग्ला, गुजराती, कन्नड़, कश्मीरी, मलयालम, मराठी, ओड़िया, पंजाबी, संस्कृत, तमिल, तेलुगु और उर्दू सहित चौदह भारतीय भाषाओं की पुस्तकें थीं।

2011 में दिल्ली मेट्रो के निर्माण के लिए तुलसी सदन के परिसर को खाली कराया गया था। उस समय पुस्तकों को अस्थायी रूप से आरके पुरम में रखने की व्यवस्था की गई थी। अस्थायी व्यवस्था पंद्रह वर्षों तक कायम रह गई। इस बीच पुस्तकें पाठकों और शोधार्थियों से लगभग कट गईं। कुछ भाषाओं के संग्रह को फिर से उपयोग में लाने की कोशिश हुई, लेकिन पूरे संग्रह की पूर्व स्थिति बहाल नहीं हो सकी।

यह केवल पुस्तकों को डिब्बों में रखने का मामला नहीं है। यह एक सार्वजनिक ज्ञान-संसाधन को उसके पाठकों से अलग कर देने का मामला है।

पुस्तकालयों की उपेक्षा को पठन संस्कृति के व्यापक संकट से अलग करके नहीं देखा जा सकता। हमारे समाज में पढ़ने की आदत का कमजोर होना केवल पाठकों की रुचि में बदलाव का परिणाम नहीं है। इसके पीछे शिक्षा व्यवस्था, सार्वजनिक संस्थानों की स्थिति, आर्थिक विषमता और ज्ञान के प्रति बदलती सामाजिक दृष्टि जैसे अनेक कारण हैं।

पुस्तक पढ़ना एकाग्रता, धैर्य और विचार की मांग करता है। पाठक को किसी विषय के साथ समय बिताना पड़ता है, उसके पक्ष-विपक्ष को समझना पड़ता है और अपने निष्कर्ष बनाने पड़ते हैं। इसके विपरीत आज सूचना और मनोरंजन का बड़ा हिस्सा छोटे-छोटे डिजिटल संदेशों, वीडियो और तात्कालिक प्रतिक्रियाओं के रूप में उपलब्ध है। डिजिटल माध्यम अपने आप में समस्या नहीं हैं। उन्होंने ज्ञान तक पहुंच के नए अवसर भी पैदा किए हैं। समस्या तब पैदा होती है जब सूचना को ज्ञान और त्वरित प्रतिक्रिया को विचार का विकल्प मान लिया जाता है।

पठन संस्कृति का अर्थ केवल किताबें खरीदना या निजी संग्रह बनाना भी नहीं है। इसका वास्तविक आधार सार्वजनिक पुस्तकालय हैं, जहां आर्थिक स्थिति की परवाह किए बिना कोई भी व्यक्ति ज्ञान के संसाधनों तक पहुंच सकता है।

हमारे यहां ऐतिहासिक विरासत की चर्चा प्रायः स्मारकों, किलों, मंदिरों, मस्जिदों, महलों और पुरातात्विक स्थलों के संदर्भ में होती है। इनका संरक्षण निश्चित रूप से जरूरी है। लेकिन ज्ञान की विरासत भी उतनी ही महत्वपूर्ण है। किसी पुराने भवन का संरक्षण और उसमें रखे ज्ञान-संसाधनों का संरक्षण एक-दूसरे के पूरक हैं।

> सेंट्रल सेक्रेटेरिएट लाइब्रेरी के भविष्य, पुस्तकों के संरक्षण आदि को लेकर अनिश्चितता से सरकारी प्राथमिकताओं पर गंभीर सवाल उठते हैं



पठन संस्कृति, ऐतिहासिक विरासत और शासन की सांस्कृतिक दृष्टि से जुड़ा है सेंट्रल सेक्रेटेरिएट का मामला

एक पुरानी पुस्तक केवल कागज और स्याही का संग्रह नहीं होती। वह अपने समय की भाषा, विचार, सामाजिक संरचना, वैज्ञानिक समझ और ऐतिहासिक अनुभव को अपने भीतर सुरक्षित रखती है। कभी-कभी एक पुरानी पुस्तक ऐसी जानकारी उपलब्ध कराती है जो किसी दूसरे स्रोत में मिलना कठिन होता है। इसलिए दुर्लभ पुस्तकों का महत्व उनके बाजार मूल्य से नहीं, उनके ऐतिहासिक और बौद्धिक मूल्य से निर्धारित होता है।

यहां एक और बात समझने की जरूरत है। डिजिटलीकरण पुस्तकालय का विकल्प नहीं है। पुस्तकें डिजिटल रूप में उपलब्ध कराना उपयोगी है, लेकिन मूल प्रति का ऐतिहासिक और भौतिक महत्व बना रहता है। कई पुस्तकों में हस्तलिखित टिप्पणियां, पुराने संस्करणों की विशेषताएं और ऐसी सामग्री होती है जिसका अध्ययन मूल पुस्तक से ही संभव है। इसलिए डिजिटलीकरण को संरक्षण की एक अतिरिक्त व्यवस्था समझना चाहिए, मूल संग्रह के विस्थापन या उपेक्षा का बहाना नहीं।

पुस्तकालयों का सार्वजनिक चरित्र लोकतांत्रिक समाज की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। यहां व्यक्ति अपनी आर्थिक हैसियत, जाति, धर्म, भाषा और सामाजिक प्रतिष्ठा से परे जाकर ज्ञान अर्जित कर सकता है। पुस्तकालय में प्रवेश करने वाले व्यक्ति की पहचान उसके पास मौजूद धन या राजनीतिक प्रभाव से नहीं होती। उसे पुस्तकों के माध्यम से दुनिया को समझने का अवसर मिलता है। यही कारण है कि सार्वजनिक पुस्तकालयों को ज्ञान के लोकतंत्रीकरण का संस्थान माना जाता है।

लेकिन जब पुस्तकालय बंद होते हैं, संग्रह डिब्बों में चले जाते हैं और पाठकों की पहुंच सीमित हो जाती है तो ज्ञान का यह लोकतांत्रिक आधार कमजोर होता है। इसका सबसे अधिक नुकसान उन लोगों को होता है जिनके पास निजी पुस्तकालय बनाने या महंगे शोध संसाधन खरीदने की क्षमता नहीं है।

इसी पृष्ठभूमि में सेंट्रल सेक्रेटेरिएट लाइब्रेरी को लेकर सर्वोच्च न्यायालय की टिप्पणी महत्वपूर्ण हो जाती है। 16 नवंबर 2026 को न्यायमूर्ति संजय कुमार और न्यायमूर्ति संजीव सचदेवा की पीठ ने पुस्तकालय की लगभग साढ़े आठ लाख पुस्तकों को पर्याप्त व्यवस्था के बिना स्थानांतरित करने की सरकारी तैयारी पर गंभीर असंतोष व्यक्त किया।

अदालत ने कहा कि सरकार को इन पुस्तकों के प्रति कुछ सम्मान दिखाना चाहिए। यदि इन पुस्तकों की जरूरत नहीं है तो इन्हें ऐसे देश को दे दिया जाए जो इनकी कद्र करे। अदालत ने प्रशासन की कार्यशैली को जल्दबाजी और तदर्थ व्यवस्था का उदाहरण माना तथा 20 नवंबर तक पुस्तकों को स्थानांतरित नहीं करने का निर्देश दिया।

अदालत की यह टिप्पणी इसलिए भी महत्वपूर्ण है कि उसने पुस्तकालय को केवल सरकारी संपत्ति या भवन में रखे सामान के रूप में नहीं देखा, बल्कि उसे ऐतिहासिक विरासत के रूप में मान्यता दी। अदालत के सामने यह तथ्य भी आया कि तुलसी सदन की लगभग दो लाख पुस्तकें पंद्रह वर्षों से आरके पुरम में पड़ी हैं। इस अनुभव के बाद केंद्रीय सचिवालय पुस्तकालय के स्थानांतरण को लेकर चिंता स्वाभाविक थी।

अदालत का हस्तक्षेप निश्चित रूप से स्वागतयोग्य है, लेकिन यह भी विचारणीय है कि देश के इतने महत्वपूर्ण पुस्तकालय की बुनियादी जरूरतों पर ध्यान दिलाने के लिए सर्वोच्च न्यायालय को हस्तक्षेप क्यों करना पड़ा।

सेंट्रल सेक्रेटेरिएट लाइब्रेरी का मामला हमें विकास की उस अवधारणा पर पुनर्विचार करने के लिए बाध्य करता है जिसमें भौतिक निर्माण को ही प्रगति का प्रमुख प्रमाण मान लिया गया है। नए भवन बनना, सड़कें चौड़ी होना, परिवहन सुविधाओं का विस्तार और आधुनिक प्रशासनिक परिसर विकसित होना आवश्यक है। लेकिन इन उपलब्धियों का मूल्यांकन इस आधार पर भी होना चाहिए कि इनके कारण समाज की ज्ञान-संपदा और सांस्कृतिक संस्थाओं को कितना लाभ या नुकसान पहुंचा।

एक देश अपने अतीत को केवल स्मारकों में सुरक्षित नहीं रखता। उसकी स्मृति पुस्तकालयों, अभिलेखागारों, विश्वविद्यालयों, साहित्यिक संस्थाओं और लोकज्ञान की परंपराओं में भी सुरक्षित रहती है। इन संस्थानों का महत्व तत्काल आर्थिक लाभ से नहीं मापा जा सकता। उनका योगदान कई पीढ़ियों तक समाज की चेतना और बौद्धिक विकास को प्रभावित करता है।

विडंबना यह है कि हम विश्वगुरु बनने की आकांक्षा व्यक्त करते हैं, भारतीय ज्ञान परंपरा की श्रेष्ठता का दावा करते हैं और प्राचीन सभ्यता के गौरव का बखान करते हैं, लेकिन अपनी ही पुस्तकों और ज्ञान-संसाधनों को सुरक्षित रखने के मामले में उदासीन दिखाई देते हैं।

सेंट्रल सेक्रेटेरिएट लाइब्रेरी को लेकर उठे सवाल इसलिए किसी एक भवन या आठ लाख पुस्तकों तक सीमित नहीं हैं। वे इस बात की परीक्षा हैं कि हम किस तरह का समाज बनाना चाहते हैं।

किसी राष्ट्र की वास्तविक समृद्धि इस बात से भी तय होती है कि उसकी अगली पीढ़ी के लिए उसने कैसी बौद्धिक संपदा सुरक्षित रखी है। भवनों का जीवनकाल सीमित होता है। सरकारें आती-जाती रहती हैं। राजनीतिक प्राथमिकताएं बदलती रहती हैं। लेकिन पुस्तकें पीढ़ियों के बीच संवाद का माध्यम बनी रहती हैं।

राष्ट्र का भविष्य केवल नए भवनों में नहीं बनता, उन पुस्तकों में भी बनता है जिन्हें पढ़ने, समझने और उनसे असहमति व्यक्त करने की स्वतंत्रता अगली पीढ़ी को उपलब्ध होती है। ■

डेमोक्रेट्स को अपनी जीत का क्या करना चाहिए?

ट्रंप के खिलाफ एकजुट, पार्टी की अगली बड़ी लड़ाई उसके अपनों के भीतर होगी



वाशिंगटन डीसी में यूएस कैपिटल की सीढ़ियों पर फोटो सेशन के दौरान हाउस ऑफ रिप्रेजेंटेटिव्स के नवनिर्वाचित सदस्य

अशोक स्वैन

डेमोक्रेटिक पार्टी ने मध्यावधि चुनावों में शानदार जीत दर्ज की है, लेकिन उसकी सबसे बड़ी लड़ाई अब उसके भीतर शुरू हो सकती है। नवंबर 2026 के चुनावों ने संसद के दोनों सदनों (कांग्रेस) का नियंत्रण डेमोक्रेट्स को सौंप दिया है, डॉनल्ड ट्रंप की रिपब्लिकन पार्टी को अपमानजनक हार थमाया और 2028 के राष्ट्रपति चुनाव से पहले राजनीतिक परिदृश्य को नाटकीय ढंग से बदल दिया। फिर भी, इस जीत के जश्न के पीछे एक असहज सवाल हैः क्या अमेरिकी मतदाताओं ने डेमोक्रेटिक पार्टी के पुराने नेतृत्व का समर्थन किया है, या फिर उन्होंने केवल ट्रंप के अलोकप्रिय राष्ट्रपति कार्यकाल को नकारा है? यह जवाब न केवल पार्टी के राजनीतिक भविष्य को तय करेगा, बल्कि यह भी कि इसराइल को बिना शर्त दिए जाने वाले अंधे समर्थन पर वाशिंगटन में दशकों की आम सहमति रहेगी या नहीं।

डेमोक्रेट्स की चुनावी जीत असाधारण है। टेक्सास से लेकर अलास्का और कंसास से लेकर साउथ कैरोलिना तक, पार्टी ने रिपब्लिकन पार्टी के उन गढ़ों में सेंध लगाई जिन्हें पहले अभेद्य माना जाता था।प्रगतिशील उम्मीदवारों ने मध्यमार्गी नेताओं के साथ मिलकर जीत हासिल की, जो यह संकेत देता है कि मतदाताओं की दिलचस्पी वैचारिक नारों से कहीं अधिक अपनी आर्थिक चिंताओं के ठोस समाधानों में थी। ईरान के साथ जारी युद्ध, जीवन-यापन की बढ़ती लागत, दंडात्मक आयात शुल्क और आव्रजन पर आक्रामक सरकारी कार्रवाइयों ने जनता की हताशा को चुनावी भूचाल में बदल दिया।

लेकिन चुनावी जीत अक्सर उन अंतर्विरोधों पर पर्दा डाल देती है जो जश्न खत्म होते ही उभर आते हैं। डेमोक्रेटिक पार्टी का मौजूदा गठबंधन अब बुनियादी आर्थिक बदलाव की मांग करने वाले लोकतांत्रिक समाजवादियों से लेकर पारंपरिक रूप से रिपब्लिकन प्रभाव वाले क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करने वाले रूढ़िवादी डेमोक्रेट्स तक है। ट्रंप के खिलाफ उनकी साझा एकजुटता को आगे के एजेंडे पर पूर्ण सहमति समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। किसी अलोकप्रिय राष्ट्रपति को हराना, इतने अलग-अलग राजनीतिक वर्गों को संतुष्ट करने वाला शासन-कार्यक्रम बनाने की तुलना में कहीं आसान है।

यही पार्टी के पुराने नेतृत्व की सबसे बड़ी परीक्षा है। चक शूमर और हकीम जेफ्रीज जैसे नेता डेमोक्रेटिक नेताओं की उस पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करते हैं जो भारी चंदे, समझौतापरस्त राजनीति और दलीय अनुशासन के बल पर परस्पर विरोधी हितों को साधने की आदी है। उस कार्यशैली ने पार्टी को एकजुट रखने में मदद जरूर की होगी, लेकिन युवा मतदाता और मुखर प्रगतिशील कार्यकर्ता अब खुलकर पूछ रहे हैं कि क्या यह व्यवस्था उन बदलावों को साकार कर सकती है जिनकी उन्हें उम्मीद है। उनका असंतोष केवल चेहरों को लेकर नहीं है; उस राजनीतिक संस्कृति के खिलाफ है जो चुनावों के दौरान बड़े बदलाव के वादे करती है और सत्ता मिलते ही यथास्थितिवाद की ओट में छिप जाती है।

बहस इस पर भी है कि डेमोक्रेट्स को अपनी इस ऐतिहासिक जीत का कैसे उपयोग करना चाहिए। मध्यमार्गी गुट टेक्सास में जेम्स टैलारिको और नॉर्थ कैरोलिना में रॉय कूपर जैसे उम्मीदवारों के प्रभावशाली प्रदर्शन का हवाला देकर कहता है कि चुनावी सफलता के लिए प्रगतिशील गढ़ों से बाहर जाकर मतदाताओं को आकर्षित करना जरूरी है। इसके विपरीत, वामपंथी धड़ा तर्क देता है कि जनहितैषी आर्थिक नीतियों, अरबपतियों के कॉरपोरेट प्रभाव की आलोचना और कभी न खत्म होने वाले अंतहीन युद्धों के विरोध ने ही विभिन्न वैचारिक मतदाताओं को एकजुट किया है। दोनों व्याख्याओं में सच्चाई है। असली सवाल यह है कि क्या डेमोक्रेट्स आर्थिक सुधारों के साहस को चुनावी व्यावहारिकता के साथ जोड़ पाते हैं या फिर दोनों को एक-दूसरे का विरोधी मानते रहते हैं।

आगामी राष्ट्रपति चुनाव की होड़ इन मतभेदों को और तेज करेगी। एलेक्जेंड्रिया ओकासियो-कोर्टेज, पीट बटिगेज, जॉन ओसॉफ और अन्य उभरते नेताओं सहित संभावित दावेदारों को ट्रंप विरोध से आगे बढ़कर एक ठोस वैकल्पिक दृष्टिकोण रखना होगा। 2028 का प्राइमरी चुनाव पिछले कई दशकों में पार्टी का सबसे निर्णायक वैचारिक मुकाबला बन सकता है।

यह आंतरिक टकराव इसराइल के मुद्दे से ज्यादा निर्णायक कहीं और साबित नहीं होगा। पीढ़ियों से वाशिंगटन में इसराइल को बिना शर्त समर्थन देने पर दोनों दलों में पूर्ण सहमति रही है। डेमोक्रेटिक और रिपब्लिकन सरकारें फिलिस्तीनी बस्तियों, द्वि-राष्ट्र समाधान और वार्ताओं पर बेशक अलग राय रखती रही हों, लेकिन इसराइल के सैन्य प्रभुत्व को बनाए रखने की प्रतिबद्धता पर कभी आंच नहीं आने दी गई। यहां तक कि जब इसराइली सरकारों ने अमेरिकी कूटनीतिक प्राथमिकताओं को खुलेआम ठुकरा दिया, तब भी वाशिंगटन उसे हथियार देता रहा, उसे वैश्विक मंचों पर कूटनीतिक संरक्षण देता रहा।

लेकिन यह पारंपरिक सहमति अब दरक रही है। गाजा में विनाशकारी सैन्य अभियान, फिलिस्तीनियों पर टूटे मानवीय कहर और उसके बाद क्षेत्रीय युद्ध के फैलाव ने डेमोक्रेट के भीतर बहस को पूरी तरह बदल दिया है। युवा अमेरिकी अब खुलकर पूछ रहे हैं कि मानवाधिकारों और अंतरराष्ट्रीय कानूनों का दम भरने वाली उनकी सरकार ऐसे सैन्य अभियानों का अंधाधुंध वित्तपोषण क्यों करे? उनके लिए फिलिस्तीनियों का दर्द दूरदराज की कूटनीतिक पेचीदगी नहीं, बल्कि अमेरिकी राजनीतिक नैतिकता की सीधी कसौटी है।

ईरान के साथ युद्ध ने इन अंतर्विरोधों को और भड़काया है। विदेशी सैन्य उलझनों से बचने के अपने वादों को छोड़ ट्रंप के सैन्य हस्तक्षेप ने महंगाई से जूझ रहे आम अमेरिकियों पर भारी आर्थिक और रणनीतिक बोझ डाला है। विदेशी युद्धों और घरेलू बदहाली के बीच का यह संबंध राजनीतिक रूप से अनदेखा नहीं किया जा सकता। जब मतदाता अपनी जेब पर ईंधन के बढ़ते दामों की मार झेलते हुए अरबों डॉलर के सैन्य खर्च को देखते हैं, तो सुदूर सहयोगियों के संरक्षण के खोखले तर्कों की हकीकत खुद-ब-खुद साफ हो जाती है।

उपराष्ट्रपति जे.डी. वेंस से जुड़े कुछ हलकों सहित रिपब्लिकन गठबंधन के कई हिस्से भी सवाल उठा रहे हैं कि अमेरिकी हितों को इजरायल की सैन्य महत्वाकांक्षाओं के साथ ऐसे क्यों बांधें? हालांकि, यह नया दृष्टिकोण फिलिस्तीनियों के अधिकारों पर किसी वैचारिक सहमति का संकेत नहीं देता, फिर भी दिखाता है कि पारंपरिक विदेश नीति की दोनों तरफ घेराबंदी शुरू हो चुकी है।

डेमोक्रेट्स के लिए पहली अग्निपरीक्षा जनवरी 2027 में नए सदन के गठन के साथ शुरू होगी। संसद के दोनों सदनों पर नियंत्रण मिलने से पार्टी को बजट आवंटन, संसदीय जांच, सैन्य सहायता और राष्ट्रपति द्वारा की जाने वाली नियुक्तियों पर निगरानी का अधिकार मिल गया है। कांग्रेस समितियां अब हथियार सौदों की जांच कर सकती हैं, ईरान युद्ध की समीक्षा कर सकती हैं और नागरिक मौतों के लिए सेना की जवाबदेही तय कर सकती हैं। डेमोक्रेट्स चाहें तो इसराइल को दी जाने वाली सैन्य मदद के साथ मानवाधिकार अनुपालन की शर्तें भी जोड़ सकते हैं।

लेकिन संसद में बहुमत का अर्थ सीधे तौर पर अमेरिकी विदेश नीति का पूर्ण नियंत्रण नहीं। ट्रंप अब भी राष्ट्रपति हैं, उनके पास व्यापक प्रशासनिक अधिकार हैं और वह किसी भी कानून को वीटो कर सकते हैं। डेमोक्रेट्स के पास राष्ट्रपति के वीटो को पलटने या सीनेट की बाधाओं को पार करने के लिए जरूरी दो-तिहाई संख्याबल नहीं है। इसके अलावा, इसराइल पर किस सीमा तक कड़ा रुख अपनाया जाए, इसे लेकर पार्टी के भीतर भी मतभेद हैं। इसलिए 2028 से पहले किसी नाटकीय बदलाव की उम्मीद नहीं।

डेमोक्रेट्स अड़ सकते हैं कि सैन्य सहायता मौजूदा कानूनों के दायरे में हो, वे अवैध बस्तियों के विस्तार का विरोध कर सकते हैं, गाजा तक निर्बाध मानवीय सहायता की मांग उठा सकते हैं और संसद की मंजूरी के बिना नए सैन्य अभियानों को खारिज कर सकते हैं। वे फिलिस्तीनी आत्मनिर्णय के अधिकार को अनंत काल के लिए टालने वाले वादे के बजाय एक अनिवार्य कूटनीतिक लक्ष्य भी बना सकते हैं।

सबसे बड़ी बाधा चुनावी राजनीति में लगने वाला भारी-भरकम धन है। इसराइल-समर्थक लॉबियों, रक्षा ठेकेदारों और अरबपति दानदाताओं का अमेरिकी चुनावों पर गहरा प्रभाव रहा है। इस दबदबे को चुनौती देने के लिए फिलिस्तीनियों के प्रति केवल जुबानी सहानुभूति से काम नहीं चलेगा। इसके लिए विदेश नीति तंत्र को जिंदा रखने वाले वित्तीय गठजोड़ों से सीधे टकराने का साहस चाहिए होगा। महंगे चुनावी अभियानों के आदी हो चुके नेताओं के लिए ऐसी निष्पक्षता बड़ा राजनीतिक जोखिम लेकर आती है।

लेकिन बदलाव से भागना अपने आप में और बड़ा जोखिम है। डेमोक्रेटिक मतदाता, विशेष रूप से युवा प्रगतिशील पीढ़ी, उस पार्टी को अनिश्चित काल तक स्वीकार नहीं कर सकती जो घरेलू स्तर पर नस्लीय समानता और मानवाधिकारों की वकालत करती है लेकिन विदेशी मोर्चे पर इन उसूलों की धज्जियां उड़ाती हैं।

डेमोक्रेटिक पार्टी आज ऐतिहासिक दोराहे पर है। उसकी चुनावी जीत ने ट्रंप को राजनीतिक रूप से पस्त जरूर किया है, लेकिन उसने उस पुराने नेतृत्व की सीमाओं को भी बेपर्दा किया है जिसकी अगुवाई में यह जीत हासिल हुई। आने वाला संघर्ष केवल मध्यमार्गियों और प्रगतिशीलों के बीच का नहीं; यह फैसला करेगा कि क्या डेमोक्रेटिक पार्टी उन पुरानी नीतियों और संस्थागत ढांचों के बचाव से बाहर निकल पाएगी जिन्होंने आम जनता में व्यापक निराशा पैदा की। ■

डेमोक्रेट्स के पास राष्ट्रपति के वीटो को पलटने के लिए पर्याप्त संख्या नहीं है। इसराइल के मुद्दे पर उनका अपना गुट बंटा हुआ है

अशोक स्वैन स्वीडन की उप्साला यूनिवर्सिटी में पीस एंड कॉन्फ्लिक्ट रिसर्च के प्रोफेसर हैं

क्या पुलिस को सत्ता की जकड़ से छुड़ाया जा सकता है?

सत्ता एक संक्रामक बीमारी की तरह है जिसका वायरस बहुत तेजी से एक से दूसरे में फैलता है

फोटो: गेटी इमेजेज



मौजूदा शासन के तहत पुलिस की स्थिति में आई गिरावट चिंताजनक रही है

अभय शुक्ला

भारत का कोई भी निष्पक्ष और तटस्थ पर्यवेक्षक पिछले एक दशक में देश के संवैधानिक और वैधानिक सार्वजनिक संस्थानों में आई गिरावट को साफ देखा होगा। मैं यहां उनके कामकाज की नहीं (हालांकि कई मामलों में वह भी चिंता का विषय है), बल्कि उनकी घटती स्वतंत्रता, बढ़ते राजनीतिकरण, अपने वैधानिक दायित्वों से भटकाव, जवाबदेही के अभाव और जन-सरोकारों के प्रति संवेदनहीनता की बात कर रहा हूं। ऐसे संस्थानों की सूची में सबसे ऊपर पुलिस का नाम आता है, खासकर उत्तर भारत के राज्यों में, जिसमें दुर्भाग्य से अब असम, बंगाल और ओडिशा भी शामिल हो चुके हैं।

यह स्थिति कानून का पालन करने वाले नागरिकों के लिए गहरी चिंता का विषय होनी चाहिए, क्योंकि कोई भी दूसरी संस्था आम जनता से इतने सीधे तौर पर नहीं जुड़ी होती है, जितनी पुलिस। कानून के संपर्क में आने वाले किसी भी नागरिक के लिए पुलिस पहला पड़ाव होती है, उसके पास बल प्रयोग का संप्रभु अधिकार होता है, वह किसी को भी व्यक्तिगत स्वतंत्रता से वंचित कर सकती है और वर्षों तक कानूनी पचड़ों में उलझा सकती है।

पुलिस वह प्राथमिक संस्था बन चुकी है जिसके जरिये मौजूदा सरकार काम करती है, क्योंकि यह हुकूमत लोकतांत्रिक संस्थाओं या प्रक्रियाओं-सलाह-मशविरा, बातचीत,समझाने-बुझाने या जनभावना-पर यकीन नहीं करती; वह शासन का एकमात्र अकेला माध्यम जानती है- बल प्रयोग। इसलिए उसे पुलिस पर निर्भर रहना पड़ता है, और संस्थागत पतन की शुरुआत होती है।

सरकार की ओर से ज्यादतियां और मनमानियां करने वाला वर्दीधारी बल जल्द ही कानून से बेपरवाह हो जाता है और खुद को ही कानून समझने लगता है। वह बेलगाम हो जाता है और सरकार के प्रति भी उतना ही गैर-जवाबदेह बन जाता है जितनी खुद सरकार जनता के प्रति हो चुकी है। दोनों के बीच एक परजीवी जैसा रिश्ता बन जाता हैः एक सत्ता में बने रहने के लिए इसका इस्तेमाल करता है, तो दूसरा अपने निजी स्वार्थ और विस्तार के लिए इस निरंकुश ताकत का फायदा उठाता है।

पिछले एक दशक में भारतीय पुलिस के साथ, खासकर हिन्दी पट्टी में, यही हुआ है। फर्जी मुठभेड़ें, हिरासत में प्रताड़ना और मौतें, अंधाधुंध गिरफ्तारियां, बुलडोजर से तोड़फोड़, जबरन बेदखली, अवैध निर्वासन, मतदाताओं का दमन, चुनिंदा अभियोजन, अपराधियों का संरक्षण और अत्यधिक बल प्रयोग-अब ये सब आम हो चुके हैं। कठुआ, हाथरस और लखीमपुर खीरी जैसी घटनाएं अब अखबारों की सुर्खियां भी नहीं बनतीं।

दरअसल, भारतीय पुलिस औपनिवेशिक मानसिकता से पूरी तरह मुक्त हो ही नहीं पाई, लेकिन केन्द्र और राज्यों की मौजूदा सरकारों के तहत इसका पतन बेहद तेज और भयावह रहा है। इसके तीन स्पष्ट संकेत दिखते हैं।

पहलाः कानूनी दायरे से बाहर जाकर बिना किसी जवाबदेही के अत्यधिक बल प्रयोग और नागरिक स्वतंत्रताओं व अधिकारों का हनन। इसके ज्वलंत उदाहरण हैंः 20 जुलाई 2026 को दिल्ली और बिहार में प्रदर्शनकारी युवाओं पर बर्बर लाठीचार्ज, फरवरी 2020 के उत्तर-पूर्वी दिल्ली दंगों में बड़े पैमाने पर फर्जी मुकदमे दर्ज करना और गिरफ्तारियां (जिनमें से अधिकतर अदालत की कसौटी पर टिक नहीं सकीं), तथा ओडिशा के नियमगिरि में बॉक्साइट खनन या अरुणाचल में सियांग महा-बांध जैसी विनाशकारी परियोजनाओं का विरोध करने वालों का शारीरिक उत्पीड़न व कानूनी दमन।

राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग (एनएचआरसी) के आंकड़ों के मुताबिक, छह वर्षों (2016-2022) के दौरान मुठभेड़ों में 813 मौतें हुईं और एक भी पुलिसकर्मी को दोषी नहीं ठहराया गया। पुलिस हिरासत में मौतें भी डरावनी संख्या में हो रही हैं। जहां मानवाधिकार आयोग के आंकड़े वर्ष 2021-22 में ऐसी 1,606 मौतों की पुष्टि करते हैं, वहीं गृह मंत्रालय ने 26 जुलाई 2022 को संसद में बताया था कि इसी अवधि में 4,484 मौतें दर्ज की गई थीं।

'बुलडोजर न्याय', धार्मिक स्थलों और 'संदिग्धों' और 'आरोपियों' के घरों को ढहाया जाना, एनएसए और यूएपीए का मनमाना इस्तेमाल, कथित 'धर्मांतरण' के नाम पर गिरफ्तारियां और जबरन निर्वासन-अदालतों की बार-बार चेतावनियों और सख्त टिप्पणियों के बावजूद यह सब हमारी रोजमर्रा की कड़वी सच्चाई बन चुका है।

यहीं से पुलिस के पतन का दूसरा संकेत सामने आता हैः अदालती आदेशों और फैसलों की खुली अवहेलना। इसका सबसे ताजा उदाहरण दिल्ली के हालिया प्रदर्शनों के दौरान सुप्रीम कोर्ट के आदेशों की अनदेखी था। शीर्ष अदालत के स्पष्ट निर्देशों के बावजूद दिल्ली पुलिस वकीलों और पत्रकारों को हिरासत में लेती रही, मेट्रो स्टेशन एवं सड़कें बंद करती रही और शांतिपूर्ण प्रदर्शनों में अड़ंगे डालती रही। (अदालत अब अवमानना याचिका पर सुनवाई कर रही है और दिल्ली पुलिस आयुक्त तथा केन्द्रीय गृह सचिव दोनों ने माफी के हलफनामे दिए हैं)।

राज्यों में स्थिति और बदतर है, जहां हाईकोर्टों ने पुलिस के खिलाफ बार-बार कड़ी टिप्पणियां की हैं। 3 नवंबर 2026 को इलाहाबाद हाईकोर्ट ने बंदी प्रत्यक्षीकरण याचिका स्वीकार करते हुए कहा- 'उत्तर प्रदेश में नागरिक स्वतंत्रताओं की स्थिति शर्मनाक हैः नागरिकों के अधिकारों के प्रति पुलिस में रत्ती भर भी सम्मान नहीं दिखता।'

अदालत ने कहाः 'इन अधिकारों का हनन यूपी पुलिस के लिए ढर्रा बन चुका लगता है।' समय-समय पर अन्य अदालतों ने भी ऐसी ही टिप्पणियां की हैं, लेकिन इनसे पुलिस के गैर-कानूनी आचरण पर न कोई लगाम लगी और न उसमें कोई सुधार आया।

तीसरा संकेत शायद कानूनों, आदेशों की इस खुली अनदेखी और सत्ता व शारीरिक ताकत के दुरुपयोग की असली वजह बताता है। यह दिन-प्रतिदिन स्पष्ट होता जा रहा है कि पुलिस का एक बड़ा तबका अब सत्ताधारी दल की हिन्दुत्ववादी विचारधारा से सहानुभूति रखता है और उसका पूरा समर्थन करता है, और इसलिए जो लोग इस विचारधारा से असहमत हैं, उनके प्रति वह व्यक्तिगत बैर-भाव रखता है। यही कारण है कि प्रदर्शनकारियों पर पैलेट गन और एके-47 का इस्तेमाल होता है, महिला पत्रकारों को निशाना बनाया जाता है और जंतर-मंतर पर प्रदर्शनकारी लड़कियों के साथ बदसलूकी होती है।

यह मानना कठिन है कि वरिष्ठ अधिकारियों ने अपने मानक संचालन प्रक्रिया (एसओपी) के तहत इन चुनिंदा ज्यादतियों का लिखित आदेश दिया होगा, हालांकि यदि ऐसा हुआ भी हो तो मुझे कोई आश्चर्य नहीं होगा। वैसे, इस संदिग्ध आचरण का ठीकरा केवल पुलिस के सिर फोड़ना भी न्यायसंगत नहीं होगा, क्योंकि नौकरशाही के उच्च पदों, रक्षा सेवाओं, विश्वविद्यालयों और न्यायपालिका के कई हिस्से भी सत्तासीन की विचारधारा का खुला समर्थन करते दिखते हैं।

इसके अलावा, यह मानना होगा कि पुलिस बल में सवर्णों का ही दबदबा है। यद्यपि विभिन्न सरकारों के सकारात्मक कदमों से पिछड़े वर्गों, दलितों और अनुसूचित जनजातियों का प्रतिनिधित्व सुधरा है, फिर भी उनकी 51 प्रतिशत हिस्सेदारी आम आबादी में उनके 67 प्रतिशत अनुपात से काफी कम है।

पुलिस बलों में महिलाओं और अल्पसंख्यकों के प्रति पूर्वाग्रह का कारण यह तथ्य भी स्पष्ट करता है कि कुल आबादी का 48 प्रतिशत होने के बावजूद पुलिस में महिलाएं केवल 10 प्रतिशत हैं। वर्ष 2011 की जनगणना के अनुसार सामान्य आबादी में 14.2 प्रतिशत हिस्सेदारी रखने वाले मुसलमानों का प्रतिनिधित्व पुलिस में (जम्मू-कश्मीर को छोड़कर) केवल 4 प्रतिशत है। ये समाज के वही तबके हैं जिनकी सत्ताधारी विचारधारा रत्ती भर भी परवाह नहीं करती।

ये आंकड़े बताते हैं कि क्यों एक खास विचारधारा पुलिस में जड़ें जमा रही है और उसके काम को तय कर रही है। भारत एक गहराई से बंटा हुआ समाज है; पुलिसकर्मी इसी समाज से आते हैं और अपने पूर्वाग्रहों को साथ लेकर सेवा में प्रवेश करते हैं। जब इन नकारात्मक प्रवृत्तियों को राजनीतिक कार्यपालिका द्वारा खुली छूट दी जाती है (बल्कि बढ़ावा दिया जाता है), तो नतीजा सबके सामने होता है।

इस बड़े खतरे की गंभीरता को समझने के लिए हमें भविष्य के संदर्भ में एक सवाल पूछना होगाः जब अच्छे दिन लौटेंगे और कानून का समतापूर्ण राज दोबारा बहाल होगा, तो क्या पुलिस मूल्यों के इस क्षरण, अपने बढ़ते कदाचार और अपने संवैधानिक जनादेश के इस भटकाव को छोड़ पाएगी? या फिर ये बुराइयां उनके मानस में इतनी गहराई से बैठ चुकी हैं कि इन्हें उखाड़ फेंकना असंभव होगा? इससे भी अधिक विचलित करने वाला सवाल यह हैः क्या वैचारिक भिन्नता के बावजूद आने वाली सरकारें पुलिस सुधारों में कोई रुचि दिखाएंगी? क्योंकि सत्ता एक संक्रामक बीमारी है, और इसके वायरस को एक से दूसरे तक फैलने में बहुत कम समय लगता है। ■

सरकार की ओर से गलत काम करने वाला वर्दीधारी बल जल्द ही बेलगाम हो जाता है

अभय शुक्ला सेवानिवृत आईएएस अधिकारी हैं

नफ़रत के दौर में प्रेम और आत्मीयता की दास्तान



के.ए. शाजी

सोनिया गांधी के संस्मरण 'बिलोंगिंगः अ जर्नी ऑफ लव' को लेकर जनता की प्रतिक्रिया में एक गहरा संतोष देने वाला अहसास है। इस क्षण में मुझे किसी आत्मकथा की सामान्य सफलता से कहीं कुछ बड़ा दिखता है। मैं इसमें भारत के हिन्दुत्ववादी तंत्र द्वारा संचालित सबसे लंबे चरित्र-हनन अभियानों में से एक की ऐतिहासिक विफलता देखता हूं। एक ऐसी महिला जिसे भाजपा और संघ परिवार ने दशकों तक अपमानित करने, अवैध ठहराने और राजनीतिक रूप से खत्म करने की हरसंभव कोशिश की, उसने अंततः अपनी कहानी अपने शब्दों में कहने का रास्ता तलाश ही लिया। और आज देश उन्हें सुन रहा है।

संघ परिवार ने एक 'मनगढ़ंत सोनिया गांधी' रचने में अपनी पूरी ताकत झोंक दी। संघ परिवार ने उस वास्तविक स्त्री को नहीं देखा जो प्रेम की डोर थामकर भारत आई थी, जिसने इस देश को अपना घर बनाया, गहरे निजी आघात झेले और अंततः सार्वजनिक जीवन में उतरी; बल्कि संघ ने पूर्वाग्रहों, अनगिनत आक्षेपों और संगठित दुष्प्रचार के बल पर एक नितांत काल्पनिक सोनिया गांधी को गढ़ दिया। संघ परिवार के लिए वह कभी बार डांसर थीं, कभी इतालवी मोहरा, कभी भारत पर कब्जा करने की साजिश रचने वाली विदेशी षड्यंत्रकारी, तो कभी भारतीयों का धर्मांतरण कराने वाली ईसाई एजेंट... ये लांछन किसी चुनावी गहमागहमी में दिए गए तात्कालिक बयान भर नहीं थे; ये इस देश में उनके वजूद पर सवाल खड़े करने, उन्हें एक शत्रुवत विदेशी के रूप में पेश करने और भारत के साथ उनकी आत्मीयता को खारिज करने के एक सोचे-समझे राजनीतिक अभियान की नियमित शब्दावली थे-वही बहिष्करण की राजनीति जिसने न जाने कितने घृणित रूप अख्तियार किए हैं।

प्रेम और विवाह के जरिये भारतीय बन जाना, देश की असाधारण विविधता में रच-बसकर उसके लोगों के साथ आत्मीय रिश्ता कायम कर लेना-आखिर इसमें क्या अपराध है? क्या 'भारतीय' होना केवल एक भौगोलिक विरासत है या उससे कहीं बढ़कर कुछ और? क्या यह एक राजनीतिक और नैतिक विचार भी है जिसे कोई व्यक्ति सचेत रूप से अपना सकता है? क्या राष्ट्रीयता केवल जन्मस्थान, वंश या धार्मिक पहचान से ही तय होनी चाहिए? सोनिया गांधी के विदेशी मूल को ही उनके समूचे जीवन का निर्णायक पैमाना बनाने में कोई कसर न छोड़ने वाले संघ परिवार के सामने उनका जीवन इन सवालों को असहज करने वाली दृढ़ता के साथ खड़ा करता है।

धर्मनिरपेक्षता और भारत की बहुलतावादी कल्पना के प्रति उनकी निष्ठा उस दौर में और भी ज़्यादा अहम हो जाती है, जब मौजूदा हुकूमत की बहुसंख्यकवादी सियासत की वजह से करोड़ों भारतीयों की इस देश के प्रति हमदर्दी और नागरिक अधिकार सवालों के घेरे में हैं। यह बहुत बड़ी विडंबना हैः जिस महिला को उन्होंने एक झूठी गढ़ी हुई कहानी में कैद करने की कोशिश की, उसने आज अपनी वास्तविक कहानी खुद लिख डाली।

दोनों परियोजनाओं के बीच का अंतर पूरी तरह साफ है। 'संघ परिवार की सोनिया गांधी' को टीवी प्रचार, राजनीतिक गालियों और अनवरत लांछनों के जरिये तैयार किया गया था। जबकि 'बिलोंगिंग' की सोनिया गांधी अपने निजी अनुभवों, भावनात्मक कोमलता, स्मृतियों और भोगे हुए इतिहास के जरिये अपनी बात रखती हैं। एक नफरत भड़काने के लिए रचा गया राजनीतिक कार्टून है, तो दूसरा अपनी आवाज को पुनः हासिल करता हुआ एक जीता-जागता इंसान।

'बिलोंगिंग' में जो बात मुझे सबसे अधिक छूती है, वह है इसमें कड़वाहट का सर्वथा अभाव। जिस महिला ने इतनी नफरत झेली हो, उसने कभी भी कड़वाहट को अपने जीवन का निर्णायक भाव नहीं बनने दिया। इसमें बहुत गहरी मानवीयता और सुंदरता है। यह शायद साहस के सबसे कठिन रूपों में से एक हैः भीतर तक घायल होने के बावजूद अपनी कोमलता न खोना और नफरत का सामना करते हुए भी प्रेम करने की अपनी क्षमता को जीवित रखना। इसलिए उनका यह संस्मरण सार्वजनिक हस्ती के पीछे छिपे इंसान को समझने का एक खुला आमंत्रण भी है।

अपने स्वयं के जीवन और अपने सबसे करीबी लोगों के निर्णयों का आलोचनात्मक पुनरावलोकन करने के साहस की मैं विशेष रूप से सराहना करता हूं। अपने पति, अपनी सास या अपने राजनीतिक तंत्र द्वारा की गई गलतियों को स्वीकार करना कभी आसान नहीं रहा होगा। इसके लिए एक मजबूत नैतिक धरातल की आवश्यकता होती है, जहां सत्य को भावनाओं से ऊपर और इतिहास को पारिवारिक प्रतिष्ठा से ऊपर रखने की तत्परता हो।

यह संस्मरण मार्मिक है क्योंकि यह आपको अंदर झांकने का मौका देता है, जिससे आप एक कठिन जीवन की नाजुकता को देख पाते हैं

संघ परिवार की समस्या केवल यह नहीं है कि वे सोनिया गांधी से असहमत हैं। वे शायद इस सच्चाई को स्वीकार करने में भी असमर्थ हैं कि जिस महिला पर उन्होंने लगातार कीचड़ उछाला, वह आज भी करोड़ों लोगों का स्नेह, सम्मान और ध्यान पाने का सामर्थ्य रखती है। यही बात मुझे इस संस्मरण के अर्थपूर्ण शीर्षक और उस बुनियादी सवाल की ओर ले जाती है जिससे यह किताब जूझती है।

कोई देश केवल जन्म से अपना नहीं बनता। अपनापन और आत्मीयता, प्रतिबद्धता, बलिदान और वहां के लोगों के साथ एक स्थायी भावनात्मक जुड़ाव से आती है। सोनिया गांधी ने इस यात्रा को जीकर दिखाया है। सोनिया गांधी की भारतीयता को उस जीवन से समझा जाना चाहिए जिसे उन्होंने यहां जीना चुना, उन नुकसानों और आघातों से समझा जाना चाहिए जिन्हें उन्होंने यहां झेला, उन जिम्मेदारियों से समझा जाना चाहिए जिन्हें उन्होंने यहां स्वीकार किया, और उन राजनीतिक मूल्यों से समझा जाना चाहिए जिनकी वह लगातार रक्षा करती रहीं।

मैंने कभी नहीं कहा कि सोनिया गांधी आलोचना से परे हैं; कोई भी राजनीतिक नेता ऐसा नहीं होना चाहिए। कांग्रेस को अपनी गलतियों का हिसाब देना होगा, और नेहरू-गांधी परिवार की भी उतनी ही कठोर जांच-पड़ताल होनी चाहिए जितनी किसी अन्य ताकतवर राजनीतिक घराने की होती है। लेकिन नेताओं से जवाबदेही मांगना अलग बात है और राजनीति प्रेरित चरित्र-हनन बिल्कुल दूसरी बात। राजनीतिक असहमति से मानवीय गरिमा कभी नष्ट नहीं होनी चाहिए।

सोनिया गांधी की भारतीयता को उनके जन्म से नहीं, बल्कि भारत के उस विचार को दिल से स्वीकार करने से समझा जाना चाहिए, जिसने उनके सार्वजनिक जीवन को आकार दिया। उन्होंने संघर्षों और चुनावी पराजयों के बीच इस विचार की रक्षा के लिए लड़ाई लड़ी; जब राजनीतिक प्रतिकूलताओं ने कमजोर इरादों वाले लोगों की परीक्षा ली, तब वह एक जोड़ने वाली ताकत बनी रहीं; और उन्होंने कभी भी इस देश को केवल एक चुनावी अखाड़ा नहीं समझा।

यह संस्मरण इसलिए दिल को छूता है क्योंकि यह आपको अपने भीतर झांकने देता है, अपनी मानवीय कमजोरियों की एक झलक दिखाता है, और एक ऐसी महिला से रूबरू कराता है जिसने असाधारण रूप से कठिन जीवन जिया लेकिन जिसे वह बिना किसी कड़वाहट के याद करती है। यह आपको उनके जीवन को उन पदों से नहीं देखने का न्योता देता है जो उन्होंने संभाले, न ही उनकी राजनीतिक जीतों या हारों के चश्मे से, बल्कि उस कसौटी से जो उन्होंने झेली, उन सिद्धांतों से जिनके आगे उन्होंने कभी समर्पण नहीं किया, और उन मानवीय मूल्यों से जो सब कुछ सहने के बाद भी उनके भीतर अडिग रहे।

शायद सोनिया गांधी के बारे में सबसे अच्छी बात यह है कि इतने वर्षों तक लगातार यह कहे जाने के बावजूद कि वह यहां की नहीं हैं, उन्होंने एक ऐसे भारत के लिए जीना, प्रेम करना और काम करना जारी रखा जहां हर नागरिक को अपनेपन का पूरा अधिकार है। यही कारण है कि मेरा मानना है कि 'बिलोंगिंग' को पूरी तरह खुले मन से पढ़ा जाना चाहिए।

किताब को लेकर जनता की असाधारण प्रतिक्रिया राजनीतिक दृष्टि से भी बेहद अहम है। पाठक कतारों में खड़े हैं और दुकानों से प्रतियां तेजी से गायब हो रही हैं। भारत और विदेशों में इसे जो व्यापक लोकप्रियता मिल रही है, वह केवल किसी सार्वजनिक व्यक्ति के निजी जीवन में झांकने की उत्सुकता भर नहीं है; बल्कि यह उस कहानी की सच्चाई को जानने की गहरी भूख भी है जिसे बहुत लंबे समय से दूसरों द्वारा तोड़ा-मरोड़ा जाता रहा है।

भाजपा की प्रतिक्रिया भी उतनी ही चौंकाने वाली और स्पष्ट है। किताब की बिक्री के सभी पुराने रिकॉर्ड टूटने और इसकी जबर्दस्त कामयाबी के बीच, नफरत का कारखाना अब भी पूरी मशक्कत कर रहा है कि कुछ ऐसा खोजा जाए जिससे उसके पुराने दुष्प्रचार को नए पंख मिल सकें।

मैं सोनिया गांधी के इस संस्मरण का स्वागत इसलिए करता हूं क्योंकि यह नफरत की मशीनरी के आगे अपनी पहचान सौंपने से साफ इनकार है; क्योंकि यह उस अहंकारी धारणा को चुनौती देता है कि उनके अपनेपन पर वे लोग सवाल उठा सकते हैं जो उनसे नफरत करते हैं; और क्योंकि यह साबित करता है कि उनका जीवन उन लोगों द्वारा कभी परिभाषित नहीं किया जा सकता जो उन्हें कभी समझ ही नहीं सकेंगे। ■

के.ए. शाजी की फेसबुक वॉल पर मूल रूप से प्रकाशित दो आलेखों के संपादित अंश

अमेरिका ने दिया राजनीति में बड़े बदलाव का संकेत

अमेरिका के मध्यावधि चुनावों ने दिखा दिया कि देश खुद को सुधारना चाहता है। इसके दुनिया के लिए भी अच्छे परिणाम होंगे

आकार पटेल

लोकतंत्र चुनावों के ज़रिये खुद को सुधारते हैं। यूं तो सभी देशों के नेतृत्व में खामियां होती हैं, लेकिन जब सत्ता पर मज़बूत पकड़ रखने वाले नेता काबिज़ होते हैं, तो ये कमियां और भी साफ़ नज़र आने लगती हैं। बहुत ज़्यादा ताक़त मिलने पर अक्सर उसका हद से ज़्यादा इस्तेमाल होता है, और जब ऐसा होता है, तो उसका विरोध भी होता है। अमेरिकी जनता ने अपने राष्ट्रपति और उनके काम करने के तरीक़े का विरोध कर यह जता भी दिया है।

हमें इस बात पर हैरानी हो सकती है - और मुझे तो सच में हैरानी हुई - कि रिपब्लिकंस के हाउस और सीनेट, दोनों जगह हारने का सबसे बड़ा कारण महंगाई या ईरान में छेड़ा गया बेतुका युद्ध नहीं था। ये दोनों मुद्दे भी अहम थे, लेकिन मतदाताओं ने ट्रंप की पार्टी को जो सबक सिखाया, उसका सबसे बड़ा कारण भ्रष्टाचार था। साथ ही, लोगों में इस बात से भी खासी नाराजगी थी कि सरकार अमीरों द्वारा, अमीरों के फायदे के लिए चलाई जा रही थी। 10 में से 9 मतदाताओं ने अपनी चिंताओं की सूची में इसे सबसे ऊपर रखा।

राष्ट्रपति के बेटों ने उनके कार्यकाल के दौरान हज़ारों करोड़ कमाए हैं और अभी भी कमा रहे हैं। ट्रंप के दामाद ने भी हज़ारों करोड़ कमाए हैं; वह एक अनौपचारिक दूत के तौर पर उन खाड़ी देशों के साथ बातचीत कर रहे हैं, जिनसे वह खुद पैसे भी ले रहे हैं। राष्ट्रपति का ध्यान इन सब बातों से हट गया है और वह अब लिंकन मेमोरियल और वाशिंगटन मॉन्यूमेंट (मिस्र शैली का वह लंबा स्तंभ) के बीच 600 मीटर लंबे रिफ्लेक्टिंग पूल और एक मेहराब जैसी चीज़ों पर ध्यान दे रहे हैं। तस्वीरों से पता चलता है कि उनका 90,000 वर्ग फुट का बॉलरूम अब खुद व्हाइट हाउस से भी बड़ा हो गया है, उस 'ईस्ट विंग' की तो बात ही छोड़ दें जिसकी जगह इसने ली है।

ईंधन की ऊंची कीमतों और बढ़ती महंगाई के बीच इन सब बातों की रोज़ाना खबरें आ रही हैं और अमेरिकियों का धैर्य जवाब दे चुका है। इन सब बातों के चलते अमेरिकी लोगों ने ट्रंप का कद छांट दिया है। अब आगे क्या हो सकता है, इसके कुछ पहलू हैं।

पहली बात तो यह है कि ट्रंप पर युद्ध खत्म करने और ईंधन की कीमतों और सप्लाई को सामान्य बनाने का दबाव है। ऐसा करना मुश्किल हो सकता है, क्योंकि इसका एकमात्र व्यावहारिक तरीका वही आत्मसमर्पण समझौता है, जिस पर उन्होंने 17 जून को वर्साय में हस्ताक्षर किए थे। इस समझौते के तहत ईरान से प्रतिबंध हटा दिए गए थे और उसे होर्मुज पर नियंत्रण मिल गया था। ट्रंप को तब तक इससे कोई दिक्कत नहीं थी, जब तक कि उनके आस-पास मौजूद युद्ध-समर्थक लोगों (जो इसराइल के हितों के लिए काम करते हैं) ने उन्हें शर्मिंदा करके इस समझौते से बाहर निकलने के लिए मजबूर नहीं कर दिया।

यह दूसरी बात है जो अब बदल गई है। डेमोक्रेटिक पार्टी के वामपंथी धड़े की बड़ी जीतें यह दिखाती हैं कि अमेरिकियों के बीच इसराइल का समर्थन बहुत कम है। दो-तिहाई अमेरिकी इसराइल के बारे में अच्छी राय नहीं रखते, और 29 साल से कम उम्र के लोगों में तो यह आंकड़ा तीन-चौथाई है। इसका मतलब यह है कि लंबे समय में, इसराइल अपने युद्ध लड़ने के लिए अमेरिका पर निर्भर नहीं रह पाएगा। सबसे प्रभावशाली लॉबी समूह अमेरिकन इसराइल पब्लिक अफेयर्स कमिटी ने 21 अक्तूबर को कहा कि वह अब उम्मीदवारों का समर्थन करना या उन्हें सीधे पैसे देना बंद कर देगा। यह तब हुआ जब रिपब्लिकन पार्टी ने उनसे अपने चुनावी मुकाबलों से दूर रहने की गुहार लगाई—जो कि एक बहुत बड़ा बदलाव है।

विदेशी युद्धों के प्रति अपनी नापसंदगी के साथ-साथ, वामपंथी विचारधारा वाले लोग 'सभी के लिए मेडिकेयर' जैसी नीतियों की भी पुरजोर वकालत करते हैं। इसका मकसद ऐसे देश में स्वास्थ्य सेवाओं को सुलभ बनाना है, जहां ये दुनिया में सबसे महंगी हैं। यह समझना मुश्किल है कि समय के साथ इस पर दोनों पार्टियों की आम सहमति क्यों नहीं बन जाती।

राष्ट्रपति ने इमिग्रेशन के सबसे कट्टर विरोधी, स्टीफन मिलर को अपना 'चीफ ऑफ स्टाफ' नियुक्त किया है। लेकिन इमिग्रेशन कानूनों को लागू करने वाली संस्था, जिसे आईसीई कहा जाता है, की क्रूरता के कारण आम अमेरिकी नागरिकों की ओर से तीखी प्रतिक्रिया देखने को मिली है। लोगों का मानना है कि अपराधियों के अलावा, बिना वैध दस्तावेजों वाले प्रवासियों (जिन्हें कट्टर सोच रखने वाले लोग 'अवैध' कहते हैं) को यहीं रहने दिया जाना चाहिए और उन्हें नागरिकता पाने का रास्ता दिया जाना चाहिए। समय के साथ, इस नीति में कुछ बदलाव की उम्मीद भी की जा सकती है।

सबसे आखिर में जो चीज बदलेगी, वह है अपनी पार्टी पर ट्रंप की मजबूत पकड़। उन्हें अपनी ताकत इस बात से मिलती है कि जिन लोगों का वह समर्थन करते हैं, वे आमतौर पर रिपब्लिकन प्राइमरी (चुनाव से पहले का चरण) जीत जाते हैं। राष्ट्रपति के रूप में अपने आखिरी महीनों में, जब ट्रंप की स्थिति कुछ कमजोर होती दिख रही है, तो उनकी जगह लेने और उन्हें चुनौती देने की कोशिश करने वाले लोग खुद को ज्यादा मजबूती से पेश करेंगे—जैसा कि उन्होंने 2016 के बाद से कभी नहीं किया था।

अमेरिका ने पहले भी चुनावों के ज़रिये अपनी दिशा बदली है। रिपब्लिकन जॉर्ज डब्ल्यू. बुश की जगह डेमोक्रेट बराक ओबामा आए, जो पहले अफ़्रीकी-अमेरिकी राष्ट्रपति थे, क्योंकि अमेरिकी जनता इराक और अफ़गानिस्तान के युद्धों से ऊब चुकी थी। डेमोक्रेट लिंडन जॉनसन - जो नागरिक अधिकारों के मामले में अपने बेहतरीन रिकॉर्ड के कारण सबसे सफल नेताओं में से एक माने जाते हैं - उनके बाद रिचर्ड निक्सन आए, जिन्होंने आख़िरकार वियतनाम के खिलाफ युद्ध को समाप्त किया।

इस महीने हुए चुनावों में रिपब्लिकन पार्टी की स्थिति 'डीप साउथ' (दक्षिणी राज्यों) में भी कमजोर हुई है। मिसिसिपी और टेक्सस जैसी जगहों पर, जिनके बिना पार्टी 2028 में राष्ट्रपति चुनाव नहीं जीत सकती—खासकर तब, जब 270 इलेक्टोरल कॉलेज वोट तक पहुंचने का रास्ता पहले ही बहुत संकरा है। इससे पार्टी और उसके नेताओं को बदलाव के लिए मजबूर होना पड़ेगा, क्योंकि अब उन्हें अपने अस्तित्व को बचाने के लिए कोई नई राह तलाशनी होगी।

अमेरिका जिस सुधार प्रक्रिया से गुजर रहा है, उससे दुनिया को फायदा होगा। विदेशों में कम हिंसक हस्तक्षेप का मतलब होगा—हम सभी के लिए, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से, कम दुख-तकलीफ। लोकतंत्र में चुनाव के जरिये सुधार होता है। लेकिन इसके लिए जरूरी है कि चुनाव निष्पक्ष और स्वतंत्र हों। जिन जगहों पर चुनावों को वैध नहीं माना जाता, वहां सुधार की चाहत दूसरे रूपों में सामने आती है—जैसा कि आज हम अपनी सड़कों पर देख रहे हैं। ■



हार बताती है कि डॉनल्ड ट्रंप को अपना और पार्टी का अस्तित्व बचाने के लिए नई राह तलाशनी होगी

लोकतंत्र में चुनाव के जरिये सुधार होता है। लेकिन इसके लिए जरूरी है कि चुनाव निष्पक्ष और स्वतंत्र हों

संडे नवजीवन
रविवार, 22 नवंबर, 2026 I www.navjivanindia.com
Published Date 22 November, 2026 (Sunday), Posted at LPC Delhi RMS, Delhi-06, Posting Days Friday and Saturday

सांपों का डर भगाया, और क्या-क्या लाया?

कार्तिक निःशेष होने को है और उसके वारिस अगहन की अगवानी की जा रही है

कृष्ण प्रताप सिंह

जब आप ये पंक्तियां पढ़ रहे हैं, पर्वों के उल्लास और कड़ी मेहनत का महीना कार्तिक निःशेष होने को है और उसका वारिस मार्गशीर्ष, अग्रहायण या अगहन की अगवानी की जा रही है। खेती-किसानी के लिहाज से देखें तो यह महीना इस अर्थ में कार्तिक का विलोम है कि कार्तिक में बादलों के बरसने को अनर्थकारी माना जाता है, तो अगहन में बरसने को सुख-समृद्धिकारी। इसीलिए महाकवि घाघ ने कहा है : धन्य वह राजा, धन्य वह देस, जहां बरसे अगहन शेष (या पूस)। मतलब यह कि किसी देश में अगहन में वर्षा हो तो वह देश भी धन्य और उसका नरेश भी।

यह कहावत उस मान्यता से प्रेरित है, जिसके तहत माना जाता है कि किसी देश में सुख-समृद्धि उसके राजा के पुण्यकार्यों का प्रतिफल होती है और वर्षा असमय न हो तो समृद्धि को अपने साथ लाती ही लाती है। इसी कहावत में घाघ ने आगे कहा है: पूस में दूना माघ सवाई। फागुन मां घरहू से जाई। यानी पौष के महीने में बादल बरसें तो फसल की उपज सवाया हो जाती है और माघ में बरसें तो दो गुनी, लेकिन फागुन में बरस जाएं तो वह नष्ट हो जाती है और घर की लेई-पूंजी भी चली जाती है।

उत्तर भारत के कई अंचलों में अब इस कहावत को ऋतुचक्र के हेर-फेर से 'अगहन दूना, पूस सवाई, माघ मास घरहू से जाई' के रूप में भी कहा जाता है। ऐसे ही किसी अगहन में वर्षा के बाद दूनी फसल पैदा होने पर कहावत कही गई कि अगहन में मुसवौ के सात जोरू। तब, जब किसानों के घरों में इतना अनाज आ गया होगा कि और तो और उसके भंडार से चुराकर खाने वाले चूहे भी गुजर-बसर की फिक्र किए बिना सात-सात जोरू रखने के सपने देख सकें। (अब इस कहावत का स्त्रीविरोधी कहावतों में शुमार किया जाता है।)

बहरहाल, अगहन के छोटे दिनों और लंबी रातों को लक्ष्य करके भी एक कहावत कही गई है : अगहन हांड़ी अदहन। समय के साथ इसके भी दो अर्थ कर लिए गए हैं। पहला यह कि अगहन में इतना जाड़ा पड़ने लगता है कि चूल्हे पर हर वक्त हांड़ी में अदहन (गरम होने या खौलने के लिए पानी) रखना पड़ता है। कभी खाना पकाने के लिए तो कभी गर्म पानी की जरूरत पूरी करने के लिए। दूसरा अर्थ यह है कि अगहन में दिन इतने छोटे होने लगते हैं कि जब तक चूल्हे पर रखा हांडी का पानी गर्म होता है, तब तक सूरज छुपने को हो जाता है।

जानकार बताते हैं कि एक समय आम लोगों के लिए इस महीने की सबसे बड़ी अहमियत यह थी कि मानसून के मौसम में सांपों और दूसरे जहरीले कीड़ों के दंश वगैरह से बचने के लिए आषाढ़ के आरंभ से ही विवश होकर वे जिन ऊंची-ऊंची खाटों पर सोया करते थे, इस महीने उन्हें छोड़कर फिर से भूमि पर शयन आरंभ कर सकते थे। अवध के कुछ हिस्सों में तो अभी भी कहावत कही जाती है : अगहन जागा, सांपों का डर भागा!



अगहन में बारिश को सुख और समृद्धिकारी माना जाता है

दरअसल, इस महीने में अपवादस्वरूप ही वर्षा हुआ करती है। फिर भी पुराने लोग भूमि पर शयन आरंभ करने से पहले सांपों के दंश की आशंका से निश्चिंत होने के लिए आम लोग उनकी विशेष पूजा करते थे, उनको दूध और दूध की खीर चढ़ाते थे।

मानसून की वर्षा के चलते घरों के बिगड़े हुलिये को दुरुस्त करने के लिए उन्हें नया रंग रौगन देने का काम भी इसी महीने आरंभ किया जाता था, ताकि शुक्ल पक्ष की पंचमी से पहले वे राम और सीता के विवाह का उत्सव मनाने लायक हो जाएं। गौरतलब है कि इसी पंचमी को राम और सीता का विवाह हुआ था। इसलिए बहुत से लोग इसे विवाह पंचमी कहते हैं। इतना ही नहीं, शिव पुराण के अनुसार, सप्तर्षियों के कहने पर हिमनरेश हिमावन और उनकी पत्नी मैना ने इसी महीने अपनी पुत्री पार्वती का विवाह शिव से करने का निश्चय किया था।

बहरहाल, घाघ ने अपनी एक अन्य कहावत में कार्तिक में भरपूर मूली खाने की सलाह दी है तो अगहन में तेल और पूस में दूध से मेल करने को कहा है। उनके मुताबिक, जो व्यक्ति खुद को अगहन भर जीरे के सेवन से बचा ले, उसे पूरे साल वैद्य की जरूरत नहीं पड़ती। भोजपुरी की एक कहावत है कि सावन साग न भादों दही, अगहन माछ न कातिक मही। यानी अगहन में मछलियां नहीं खानी चाहिए क्योंकि वह उनका प्रजननकाल है। दूसरी ओर कई वैद्य पूरे अगहन महीने दिन में सिर्फ एक बार भोजन करने की सलाह देते हैं। लेकिन क्या आप जानते हैं कि संवत्सर की भारतीय परंपरा आरंभ हुई तो मार्गशीर्ष उसका पहला महीना हुआ करता था? इसीलिए इसका एक और नाम अग्रहायण है, जिसका एक अर्थ 'वर्ष का पहला महीना' भी है।

> कार्तिक में बादलों के बरसने को अनर्थकारी माना जाता है, तो अगहन में बरसने को सुख-समृद्धिकारी। इसीलिए महाकवि घाघ ने कहा है : धन्य वह राजा, धन्य वह देस, जहां बरसे अगहन शेष

इस बात को इस तरह भी समझा जा सकता है कि गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं को मासों में मार्गशीर्ष बताया है " मासानां मार्गशीर्षोऽहम्" और ऋतुओं में कुसुमाकर यानी वसंत। 'महाभारत' में दो स्थलों पर हुआ संवत्सर के बारह महीनों का जिक्र भी मार्गशीर्षादि क्रम में किया गया है यानी मार्गशीर्ष से ही शुरू होता है।

लेकिन सवाल है कि श्रीकृष्ण के इस कथनानुसार उनके व्यक्तित्व में मार्गशीर्ष और वसंत का जो संयोग है, वह अब संवत्सर में घटित क्यों नहीं होता? अग्रहायण आता है तो उसके साथ कुसुमाकर क्यों नहीं आता? वह तब क्यों आता है, जब अग्रहायण तो अग्रहायण, उसके बाद पौष और माघ का बड़ा हिस्सा भी समाप्त हो जाता है।

विद्वानों द्वारा जवाब में दो बातें कही जाती हैं। पहली यह कि अब भले ही अग्रहायण के वक्त शरद ऋतु हुआ करती है, श्रीकृष्ण धरती पर आए तो उसके साथ कुसुमाकर वसंत ही उतरा करता था। दूसरी बात यह कि सम्प्रति वसंत ऋतु से आरंभ होने वाली मासगणना प्राचीन काल में शरद ऋतु से आरंभ हुआ करती थी और जिस प्रकार ऋतुओं में वसंत को वैसे ही मासों में प्रथम मास को उत्तम माना जाता था। भले ही वह शरद ऋतु में आता हो।

अतीत में मासगणना में ऐसे परिवर्तनों की कई मिसालें हैं। मालवा, मेवाड़, गुजरात और महाराष्ट्र आदि में श्रावण और कार्तिक आदि महीनों से आरंभ होने वाले संवत्सर भी चले और चलन में रहे हैं। अग्रहायण के बजाय चैत्र का संवत्सर का पहला महीना बन जाना भी ऐसे ही परिवर्तन की मिसाल है।

अग्रहायण शब्द का संबंध आग्रहायणी नक्षत्र से भी जोड़ा जाता है, जो मृगशीर्ष या मृगशिरा का दूसरा नाम है। आजकल बोलचाल में अग्रहायण के बजाय उसका अपभ्रंश अगहन प्रचलन में है।

ज्योतिषी बताते हैं कि इस महीने की सप्तमी और अष्टमी 'मासशून्य' और मंगल कार्यों के लिए अनुपयुक्त तिथियां हैं। इसके कृष्णपक्ष की अष्टमी को भैरव अष्टमी कहा जाता और विश्वास किया जाता है कि वह भगवान शिव के पृथ्वी पर कालभैरव के रूप में प्रकट होने की तिथि है। शिवभक्तों द्वारा इस तिथि को विशेष प्रार्थनाएं और अनुष्ठान किए जाते हैं।

हां, इस महीने के 11वें चंद्र दिवस को मोक्षदा एकादशी मनाई जाती है और जप-तप, ध्यान और पवित्र नदियों में स्नान के लिए पूरे महीने को ही उत्कृष्ट माना जाता है। स्वयं को मासों में मार्गशीर्ष बताने वाले योगेश्वर कृष्ण को तो उनके विभूतिस्वरूप होने के कारण यह एक तरह से समर्पित ही है। भागवत पुराण में कहा गया है कि ब्रज की गोपिकाओं ने श्रीकृष्ण की रूपमाधुरी, बांसुरीवादन और लीलाओं से मुग्ध होकर पति के रूप में पाना चाहा तो अपनी यह कामना पूरी करने के लिए मार्गशीर्ष के पूरे महीने देवी कात्यायनी की पूजा की थी। इस पूजा में वे सुबह-सुबह यमुना के तट पर एकत्र होकर केवल हविष्यान्न खाकर अपनी संकल्पसिद्धि की प्रार्थना करती थी। इसके लिए वे मुंह अंधेरे ही शैया त्यागकर आपस में एक दूजे का नाम लेकर पुकारतीं, फिर ईर्ष्या और द्वेष से रहित होकर आपस में गलबहियां डालकर ऊंचे स्वर में श्रीकृष्ण के गुणों और लीलाओं का बखान करती हुई यमुना की ओर जातीं।

ओडिशा में अगहन के सभी गुरुवारों को 'मनाबासा गुरुबारा' मनाया जाता और लक्ष्मी की पूजा की जाती है, जबकि तमिलनाडु में महिलाएं पूरे महीने के दौरान सुबह-सुबह अपने घरों में 'कोलम' या 'रंगोली' बनाती हैं। यह भी कहा जाता है कि कश्यप ऋषि ने इसी महीने में कश्मीर की रचना की थी। ■

Nehru centre

नेहरू सेंटर ऑडिटोरियम

वेस्टर्न एक्सप्रेसवे पर
मुंबई के हृदयस्थल में,
बीकेसी से सटे,
एयरपोर्ट के पास



इन सबके लिए सर्वोत्तमः
- कॉरपोरेट/एचआर मीटिंग, सेमिनार या ट्रेनिंग सेशंस
- व्याख्यान
- बुक लॉन्च/ बुक रीडिंग
- पैनल डिस्कशन
- साहित्यिक/सांस्कृतिक कार्यक्रम



ऑडिटोरियम उपलब्ध है
-पूरा दिन सुबह 10 बजे से शाम 8 बजे
-आधा दिन सुबह 10 बजे से दोपहर 2 बजे या शाम 4 बजे से शाम 8 बजे

बुकिंग के लिए कृपया संपर्क करें: +91 22-26470102, 8482925258
या हमें लिखें: contact@nehrucentre.com
नेहरू सेंटर ऑडिटोरियम, दूसरा फ्लोर, एजेएल हाउस, 608/1ए, प्लॉट नं. 2, एस. नं. 341, पीएफ ऑफिस के पास, बांद्रा, मुंबई- 400051